प्रथम संस्करण : वीर संवत् २४७६
प्रति १०००
द्वितीय संस्करण : वीर संवत् २४७६
प्रति १०००
तृतीय संस्करण : वीर संवत् २४८५
प्रति १०००

मूल्य
एक रुपया

मुद्रक—
नेमीचन्द बाकलीवाल
कमल प्रिन्टर्स
मदनगंज (किशनगढ़

निवेदन

श्रीमान् पण्डितप्रवर श्री टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग-प्रकाशक ग्रन्थ की रचना की है। यह ग्रन्थ जैन समाज में विख्यात है। वीर संवत् २४७० में इस ग्रन्थ पर पूज्य श्री कानजी स्वामी ने प्रवचन प्रारम्भ किये थे। उस समय उन प्रवचनों में से कितने ही सारभूत न्याय लिख लिये गये थे। मोक्षमार्ग-प्रकाशक में कुल ९ अधिकार हैं। उनमें से प्रथम छह अधिकारों के प्रवचनों में से अवतरित किये हुए न्याय इस पुस्तक में प्रकाशित किये गये हैं। सातवाँ अधिकार "जैनमतानुयायी मिथ्यादृष्टियों का स्वरूप" नामक है; वह अधिकार जिज्ञासुओं को अत्यावश्यक है, इसलिये उस पर के लगभग सभी प्रवचन लिख लिये गये हैं, जो लगभग एक हजार पृष्ठों के बराबर हैं।

मोक्षमार्ग-प्रकाशक ग्रन्थ को सूर्य की उपमा दी गई है; सूर्य के समान वह मोक्ष के मार्ग को प्रकाशित करता है। और यह प्रवचन "मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें" हैं जैसे सूर्य की किरणें अन्धकार को नष्ट करके प्रकाश को फैलाती हैं उसीप्रकार यह किरणें भी भव्य जीवों के लिये मोक्ष के मार्ग को प्रकाशमय बनाती हैं। जो भव्य जीव अपने अन्तरपट में इन किरणों को प्रविष्ट करता है उसके अन्तर में अवश्य ही ज्ञानप्रकाश होता है और अज्ञान-अंधकार विलीन हो जाता है।

इस पुस्तक में कुल १६३ किरणें हैं; उनमें विविधप्रकार के अनेक न्याय हैं। इन विषयों में मुख्यतया ज्ञानी और अज्ञानी जीवों के बीच के मूलभूत अन्तरंग भेदों की पहिचान कराई

है। अज्ञानी के अभिप्राय में किस-किस प्रकार की गहरी भूलें होती हैं, दुःखों को दूर करने के उनके सभी प्रयत्न कैसे विपरीत होते हैं; ज्ञानी के सर्व प्रसंगों में कैसा सम्यक्‌अभिप्राय रहता है और अज्ञानी के सभी प्रसंगों में कैसा मिथ्याअभिप्राय होता है—इस विषय में इन व्याख्यानों में सविस्तार अत्यन्त स्पष्टरूप से समझाया गया है। इसप्रकार अज्ञान और ज्ञान के बीच के मूलभूत अन्तर को बतलाकर सम्यक्‌ज्ञान प्राप्त करने का उपाय इसमें बताया है। इस पुस्तक के छपने से पहले पूज्य श्री कानजीस्वामी ने पढ़ लेने की कृपा की है। पूज्य गुरुदेव के श्रीमुख से प्रगट हुई इन किरणों द्वारा मोक्ष का मार्ग शाश्वत प्रकाशमान रहे!

श्री ऋषभदेव निर्वाण कल्याणक दिन वीर सं. २४७४ पौष वदी १४ सोनगढ़	रामजी माणेकचंद दोशी प्रमुख : श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़

श्री वीतरागाय नमः

प्रथम अध्याय

(१) ग्रन्थ और ग्रन्थकर्ता

जिसे जीवों ने अनादिकाल से नहीं जाना, उस मोक्षमार्ग का प्रकाश करने वाला यह ग्रन्थ है। इस मोक्षमार्गप्रकाशक में पंडितप्रवर श्री टोडरमलजी ने हजारों सत्‌शास्त्रों का दोहन करके आचार्यों के कथन का रहस्य अवतरित किया है।

(२) सिद्ध भगवान की पहिचान से भेदविज्ञान

जो जीव सिद्ध भगवान के स्वरूप को जानता है वह विज्ञानरूप होता है अर्थात् उसे भेदविज्ञान होता है। वह किस प्रकार होता है? जब जीव सिद्ध भगवान को पहिचान लेता है तब उसे ऐसी भावना होती है कि अहो! यह सिद्ध भगवान सम्पूर्ण सुखी हैं, उनका ज्ञान भी परिपूर्ण है, उनके राग-द्वेष नहीं हैं, कर्म नहीं हैं और शरीर नहीं है; सिद्ध भगवान आत्मा है और मैं भी आत्मा हूँ, स्वभाव की अपेक्षा से सिद्ध में और मुझमें अन्तर नहीं है। सिद्ध भगवान की भाँति मैं अपने स्वभाव से परिपूर्ण हूँ। सिद्ध के स्वरूप में राग-द्वेप, कर्म अथवा शरीर नहीं हैं; वैसे ही मेरे स्वरूप में

भी राग-द्वेष, कर्म या शरीर नहीं हैं; सिद्ध के पुण्य-पाप का भाव नहीं है वैसे ही मेरे भी वर्तमान में जो पुण्य-पापभाव होते हैं वे मेरे स्वभावभाव नहीं किन्तु उपाधिभाव हैं। जो सिद्ध के नहीं है वह मेरे भी नहीं है। आत्मा का स्वभाव-भाव शुद्ध–पवित्र है, उस भाव के द्वारा सिद्ध भगवान ने रागादि उपाधिभावों को दूर किया है और स्वद्रव्य की स्थिरता के द्वारा पर द्रव्यों का अहंकार नष्ट किया है; जो सिद्ध के आत्मा में से दूर हो गया है वह सब मेरे आत्मा में से भी निकलने योग्य ही है और मात्र सिद्धसमान शुद्धस्वभाव-भाव रहने योग्य है। इस प्रकार सिद्धस्वरूप के ज्ञान–ध्यान द्वारा भव्य जीवों को स्वभाव और परभाव का भेदविज्ञान होता है; इसलिये श्री सिद्ध भगवन्त मंगलरूप हैं, उन्हें हमारा नमस्कार हो। जैसे सिद्ध हैं वैसा ही मैं हूँ, और जैसा मैं हूँ वैसे ही सिद्ध हैं–ऐसे शुद्ध आत्मस्वरूप को दर्शाने के लिये सिद्ध भगवान प्रतिविम्व के समान हैं।

(३) मंगल कौन है ?

प्रश्न:—मोक्षमार्गप्रकाशक का प्रारम्भ करते हुए पंच-परमेष्ठी को मांगलिकस्वरूप कहा है, किन्तु पंचपरमेष्ठी तो परद्रव्य हैं; यदि परद्रव्य को मांगलिक कहोगे तो निमित्त का बल आयेगा ?

उत्तर:—पंचपरमेष्ठियों को मांगलिकरूप कहा, उसमें निमित्त पर भार नहीं देना है, किन्तु पंचपरमेष्ठी को यथार्थरूप से जानकर उन्हें स्मरण में लेनेवाला अपना जो

ज्ञान है, वह ज्ञान ही परम मांगलिक है; इससे वास्तव में ज्ञानस्वभाव का ही बल है। पंचपरमेष्ठी स्वतः अपने लिये मांगलिकरूप हैं और इस आत्मा के लिये अपना निर्मल भाव मांगलिक रूप है। पंचपरमेष्ठियों की पहिचान और स्मरण करने से अपने भावों में तीव्र कषाय दूर होकर निर्मलता होती है—वही मंगल है!

(४) मांगलिक

आत्मा में केवलज्ञान प्रगट हो वही सुप्रभात है और वही आत्मा का मांगलिक है। आत्मा के पूर्णस्वभाव—केवलज्ञान को पहिचानकर जिसे उसकी महिमा आती है, उसके विकार की और पर की महिमा दूर हो जाती है—वही मंगल है।

आत्मा स्वतः सहज स्वरूप से दृष्टि, ज्ञान, आनन्द, पुरुषार्थ इत्यादि से पूर्ण स्वभाव-सम्पदा का मन्दिर है। आत्मा को अपने श्रद्धा-ज्ञान-सुखादि के लिये बाह्य की किसी लक्ष्मी की आवश्यकता नहीं है, किन्तु स्वतः ही स्वभाव की पूर्ण लक्ष्मी का वीतरागी-मन्दिर है। आत्मा का स्वरूप ज्ञान-आनन्द से तादात्म्यरूप है, वह कभी ज्ञान-आनन्द स्वभाव से वञ्चित नहीं होता। अपने पूर्ण ज्ञानानन्द-स्वभाव की दृष्टि और लीनता से जिन सत्पुरुषों के केवलज्ञान और अनन्त सुख प्रगट हुआ है उनके आत्मा में सुप्रभात का उदय हुआ और सादिअनन्त काल मंगल-वर्ष का प्रारम्भ हुआ है। ऐसे श्री जिनेन्द्र भगवन्तों को हमारा भक्तिपूर्वक नमस्कार हो!

(५) सत्शास्त्रों का स्वरूप

“जो आगम मोक्षमार्ग का प्रकाश करे वही पठन-श्रवण करने योग्य है; कारण कि संसार में जीव अनेक प्रकार के दुःखों से पीड़ित हैं। यदि शास्त्ररूपी दीपक द्वारा वे मोक्षमार्ग को प्राप्त करलें तो उस मोक्षमार्ग में गमन करके इन दुःखों से मुक्त हो जायें। मोक्षमार्ग तो मात्र वीतरागभाव है, इसलिये जिन शास्त्रों में किसी प्रकार राग-द्वेष, मोहभावों का निषेध करके वीतरागभाव का प्रयोजन प्रगट किया हो वही शास्त्र सुनने एवं स्वाध्याय करने योग्य हैं।”

(गुजराती मोक्षमार्ग-प्रकाशक पृष्ठ १५)

सत्शास्त्रों का प्रयोजन वीतरागभाव की पुष्टि करने का ही है।

सत्शास्त्रों में चाहे जो बात की गई हो किन्तु उसमें राग–द्वेष–मोह को मिटाने और वीतरागभाव का पोषण करने का ही प्रयोजन है। भक्ति, शास्त्र-श्रवण, दानादि करने की बात की हो वहाँ भी उसमें जो राग है उसका निषेध ही किया है। देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति इत्यादि में शुभराग होता है किन्तु कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र के प्रति राग का उसमें प्रथम ही निषेध आता है, इससे वहाँ भी राग दूर करने का प्रयोजन सिद्ध होता है। सच्चे देव, गुरु, शास्त्र की भक्ति–पूजादि का कथन हो वहाँ पर जो वीतरागी स्वरूप की दृष्टिपूर्वक अशुभ-राग दूर हुआ वह प्रयोजन है, किन्तु जो शुभराग रह गया है उसका प्रयोजन नहीं है, उसका तो निषेध है।

सत्शास्त्रों की स्वाध्याय करने से शुभराग होता है, किन्तु शास्त्रों का प्रयोजन तो यह बतलाने का है कि यह शुभराग भी आत्मा का स्वरूप नहीं है, इससे यह भी रखने योग्य नहीं है। स्वरूप की दृष्टि सहित शुभभाव हों वह अशुभ भावों से बचाते है इससे उनके द्वारा वीतरागभावरूप प्रयोजन अंशत: सिद्ध होता है। शास्त्र किसी भी प्रकार का राग रखने के लिये नहीं कहते, किन्तु किसी न किसी प्रकार से राग टालने का उपाय ही शास्त्र बतलाते हैं। शास्त्र आत्मा की स्वतंत्रता बतलाते हैं कि तुम स्वतंत्र हो, अपने से ही परिपूर्ण हो, हमारा अवलम्बन भी तुम्हें नहीं है। इस प्रकार शास्त्र आत्मा की स्वतंत्रता को बतलाकर मोह और राग-द्वेष का त्याग कराते हैं। राग कम होकर जितना वीतरागभाव हुआ उतना ही प्रयोजन सफल हुआ है और जो राग शेष रहा वह रखने योग्य नहीं है।

जिसमें किसी भी प्रकार से राग करने का प्रयोजन बताया हो वह सत्शास्त्र नहीं है। सत्शास्त्र किसी भी प्रकार से राग करने का प्रयोजन बतलाते ही नहीं।

भक्ति इत्यादि शुभराग का उपदेश हो वहाँ भी वीतरागता का ही प्रयोजन है।

प्रश्न:—भगवान की भक्ति शुभराग है, तथापि सत्शास्त्र में तो वह करने का उपदेश आता है ?

उत्तर:—सत्शास्त्र में जहाँ भगवान की भक्ति करने को कहा हो वहाँ अशुभ राग टालने का प्रयोजन है और जो

शुभराग रह जाता है उसे रखने का भी उपदेश नहीं है। सत्शास्त्र का पूर्ण प्रयोजन तो अशुभ और शुभ दोनों राग छुड़ाकर संपूर्ण वीतरागता कराने का ही है, किन्तु जहाँ वह प्रयोजन पूर्ण रूप से सिद्ध न होता हो वहाँ एकदेशप्रयोजन सिद्ध करने के लिये अशुभ से छुड़ाने को शुभ का उपदेश दिया जाता है।

सत्शास्त्र राग से और कुमार्ग से बचाते हैं।

सत्शास्त्रों में कभी-कभी तो ऐसा भी कथन आता है कि यदि तू जिनेन्द्र भगवान को माने तो तेरा बाँझपन दूर हो जाये और पुत्र की प्राप्ति हो! इसमें भी किसी अंश में राग को कम कराने का ही प्रयोजन है। यदि पुत्र-प्राप्ति की इच्छा से वीतरागदेव को माने तो वहाँ मिथ्यात्व ही है; किन्तु लौकिक हनुमान, पीर आदि कुदेवों को मानने से जीव के अत्यन्त तीव्र राग है, उससे बचाने के प्रयोजन का विचार करके सच्चे देव को मानने के लिये कहा है। पुत्र-प्राप्ति की इच्छा से भी यदि कुदेवादि को छोड़कर सच्चे वीतरागदेव को माने तो राग कुछ मन्द होता है; और कुदेवादि के पास तो उसे सत् समझने का अवकाश ही नहीं था, अब सुदेवादि के मानने से कभी भी उसे सत् को समझने का अवकाश है। इस प्रकार जितना राग मन्द होता है उतना ही वहाँ शास्त्र का प्रयोजन है, जो राग शेष रहा वह तो छोड़ने योग्य ही है।

सत्शास्त्र प्रथम तो पूर्णता का ही उपदेश देते हैं कि—तेरा स्वभाव सर्व प्रकार से परिपूर्ण है, उसकी श्रद्धा—

ज्ञान–स्थिरता करके इसी क्षण पूर्ण परमात्मा हो जा ! मिथ्यात्व और रागमात्र को निकालकर चिदानन्द वीतराग हो ! यदि सम्पूर्ण वीतरागता न हो सके तो सम्पूर्ण वीतरागी स्वभाव की श्रद्धा–ज्ञान कर ! और यदि श्रद्धा–ज्ञान भी तत्क्षण न हो सकें तो उनकी जिज्ञासापूर्वक सत्‌देव-गुरु-शास्त्र के अवलम्बन द्वारा कुदेवादि के प्रति जो राग है उसे छोड़ !

इसमें जो शुभराग होता है वह राग कराने का शास्त्र का प्रयोजन नहीं है, किन्तु जितने अंश में राग दूर हुआ उतना ही प्रयोजन है। शास्त्र का मुख्य प्रयोजन तो जीव को मोक्षमार्ग में लगाने का है। सच्चे शास्त्र किसी भी प्रकार से जीव को राग और कुमार्ग से बचाते हैं। राग की या कुदेवादि की पुष्टि करानेवाला कथन किसी भी वीतरागी शास्त्र में नहीं होता। 'तुझसे यदि शुभराग न हो, तो तू पाप करना अथवा कुदेवादि की मान्यता करना'–ऐसा वचन किसी भी सत्‌शास्त्र में होता ही नहीं।

अन्य शास्त्र हैं वे सत्‌शास्त्र क्यों नहीं ?

प्रश्नः—सत्‌शास्त्रों में राग को कम करने का प्रयोजन है—ऐसा कहा; किन्तु अन्य शास्त्रों ने भी राग कम करने के लिये तो कहा है; इसलिये उन्हें भी सत्‌शास्त्र कहना पड़ेगा ?

उत्तरः—सत्‌शास्त्रों का कोई भी कथन राग की पुष्टि करानेवाला होता ही नहीं। अन्य शास्त्रों में किसी समय तो राग कम करने के लिये कहते हैं और कभी राग करने को कहते हैं, अर्थात् एक प्रकार का राग कम करने को कहकर

दूसरे प्रकार के राग की पुष्टि कराते हैं, यानी वे राग की ही पुष्टि कराते हैं। भगवान की भक्ति में जो शुभराग है वह राग करने की अन्य शास्त्र पुष्टि करते हैं इससे उन शास्त्रों में राग को कम करने का उपदेश यथार्थ नहीं है। शुभराग करते-करते धर्म होगा—ऐसा जो शास्त्र कहते हैं वे राग करने की ही पुष्टि करते हैं, सत्शास्त्र कभी भी राग से धर्म मनाते ही नहीं। राग को दूर करते-करते धर्म होता है, किन्तु राग करने से धर्म नहीं होता। सच्चे जैन-शास्त्रों में तो राग के एक अंश से लेकर सम्पूर्ण राग छुड़ाने का ही उपदेश है। राग का एक अंश मात्र भी रखने का उपदेश जैन-शास्त्रों में होता ही नहीं। शुभराग करने की बात की हो वहाँ भी जो राग है वह करने का प्रयोजन नहीं है, किन्तु जो तीव्र राग था वह घटाने का प्रयोजन है। वीतरागी शास्त्रों में राग को छुड़ाने का ही आदेश है राग करने का नहीं। (राग कहने से मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय तीनों समझना चाहिये। मिथ्यात्वपूर्वक जो राग है वही अनन्तानुबन्धी राग है; वह मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी राग-द्वेष सब से प्रथम छोड़ने योग्य हैं।)

सत्शास्त्र में जहाँ शुभराग का उपदेश हो
वहाँ भी मोक्षमार्ग का ही प्रयोजन है;
किन्तु राग स्वतः धर्म नहीं है।

प्रश्न:—सत्शास्त्र तो मोक्षमार्ग का प्रकाश करनेवाले होते हैं। तब फिर शास्त्र में जहाँ अज्ञानी को शुभराग करने

की बात आती है वहाँ मोक्षमार्ग का प्रतिपादन किस प्रकार हुआ ? सम्यग्दर्शन के विना तो मोक्षमार्ग होता ही नहीं।

उत्तर:—अज्ञानी को शुभराग करने के लिये कहा हो वहाँ राग का प्रयोजन नहीं है किन्तु कुदेवादि की मान्यता से बचाकर सच्चे देव, गुरु, धर्म की मान्यता कराने का प्रयोजन है। वहाँ पर तीव्र मिथ्यात्व अंशत: मन्द हुआ है—इस अपेक्षा से उसे व्यवहार-मोक्षमार्ग कहा जाता है। वास्तव में तो सम्यक्‌दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही मोक्षमार्ग है; राग मोक्षमार्ग नहीं है, और उस राग से धर्म नहीं है; किन्तु कुदेवादि की मान्यता में जो तीव्र मिथ्यात्व है वह वीतरागी देव को मानने से मन्द होता है; और सत् निमित्त होने से सत् को समझने का अवकाश है इससे उपचार से उसे मोक्षमार्ग कहा जाता है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र यह बतलाते हैं कि हे आत्मन् ! तुम स्वतंत्र हो, पूर्ण ज्ञानस्वरूप हो, राग तुम्हारा स्वरूप नहीं है।

ज्ञानियों का उपदेश जीवों को सरल रीति से अथवा परम्परा से मोक्षमार्ग में लगाने के लिये है।

ज्ञानियों का उपदेश जीवों के कल्याण के लिये होता है। कभी कोई जीव मोक्षमार्ग समझने की योग्यतावाला नहीं हो तो जिससे राग घटे वैसा उपदेश उसे देते हैं। जैसे— कोई मांसाहारी भील किन्हीं मुनिराज के पास उपदेश सुनने के लिये बैठ गया; अब यदि श्रीमुनि उसे मोक्षमार्ग का उपदेश देने लग जायें तो उसे कुछ भी समझ में नहीं

आयेगा; इससे श्रीमुनि उससे कहते हैं कि–देख भाई ! हिरण आदि निर्दोष प्राणियों के मारने में पाप है और उसके फल में नरक है; इसलिये तू शिकार छोड़ दे, मांस-भक्षण छोड़ दे तो तेरा कल्याण होगा !

मांस-भक्षण छोड़ देने से कल्याण होगा–ऐसा कहा है, वहाँ पर ऐसा आशय है कि वह दुर्गति में न जाकर स्वर्गादि में जायेगा, इस अपेक्षा से उसका कल्याण कह दिया है। और भविष्य में उसकी पात्रता होगी तो ऐसा विचार करेगा कि अहो ! मात्र मांस-भक्षण का राग छोड़ा उसका तो इतना फल है, तब फिर सम्पूर्ण रागरहित स्वभाव की महिमा कैसी होगी ! ऐसे विचार से वह मोक्षमार्ग में भी लग जाता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष या परम्परा से भी जिनशासन में जीवों को मोक्षमार्ग में लगाने का ही प्रयोजन है।

मुनिराज ने ऐसा कहा कि 'मांस-भक्षण छोड़ दे, तेरा कल्याण होगा'—यह सुनकर यदि उस समय वह भील विशेष जिज्ञासा से ऐसा पूछे कि–'प्रभो ! आप मांस-भक्षण छोड़ने के लिये कहते हैं; तो उससे मुझे धर्म तो होगा न ? मेरा मोक्ष तो होगा न ? तो उस समय श्रीमुनि को ऐसा ख्याल आजाता है कि यह कोई पात्र जीव है, इसी से ऐसा धर्म की जिज्ञासा का प्रश्न इसे उठा है और यह समझने की जिज्ञासा से खड़ा है। ऐसी उसकी पात्रता को देखकर उसे रत्नत्रय का उपदेश देते हैं कि भाई ! हमने तुझे पाप से बचाने के लिये मांस-भक्षण छोड़ने को, शुभराग से कल्याण होना, व्यवहार

से कहा था; किन्तु यदि तुझे धर्म समझने की रुचि है तो धर्म का स्वरूप इस राग से भिन्न है। राग से धर्म नहीं है, किन्तु रागरहित आत्मा के चैतन्यस्वभाव को समझने से धर्म है।

नरकादि गतियों से बचने की अपेक्षा से शुभराग द्वारा कल्याण कह दिया; किन्तु वास्तविक कल्याण (धर्म) तो उससे भिन्न है।—इत्यादि प्रकारों से जिस प्रकार जीव का हित हो उसी रीति से जिनशासन का उपदेश है।

जो सत्‌शास्त्रों की स्वाध्याय करके राग का पोषण करते हैं वे स्वच्छन्दी हैं।

शास्त्र के कथनों को पढ़कर जो जीव राग-द्वेष-मोह को बढ़ाने का आशय निकालते हैं वे जीव सत्‌शास्त्र के आशय को नहीं समझे हैं और वे स्वच्छन्दी हैं। उन जीवों के लिये तो वे सत्‌शास्त्र हित का निमित्त भी नहीं हैं। शास्त्र में राग-द्वेष-मोह की वृद्धि करने का आशय है ही नहीं, किन्तु वे जीव अपनी विपरीत श्रद्धा के कारण वैसा समझे हैं; उसमें शास्त्र के कथन का दोष नहीं है, किन्तु जीव की समझ का दोष है। जो जो जीव यथार्थ आत्मस्वभाव को समझकर राग-द्वेष-मोह को कम करते हैं उन्हें सत्‌शास्त्र निमित्तरूप कहे जाते हैं।

शुभराग का क्या प्रयोजन है ?

चारित्रदशा में पंचमहाव्रत का शुभराग होता है—ऐसा

सत्शास्त्र में कहा हो, तथापि वह कथन राग कराने के लिये नहीं है किन्तु स्वरूप की दृष्टि और स्थिरतासहित अशुभराग से बचाने का प्रयोजन है, परन्तु महाव्रत का जो शुभराग रहा वह तो छोड़ने के लिये ही है। धर्म तो मात्र निश्चयमार्ग-रूप ही है। शुभराग के द्वारा धर्म नहीं होता; धर्म तो पुण्य-पाप से रहित मात्र शुद्धस्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और रमणता-रूप ही है।

सत्शास्त्र में शृंगार-रस, युद्ध, भोग इत्यादि के वर्णन का प्रयोजन

सत्शास्त्रों में शृंगार-रस, भोग, युद्ध इत्यादि का वर्णन आये वहाँ भी उसका प्रयोजन जीव को पुण्य-पाप के फल की श्रद्धा पैदा कराना और उसके प्रति वैराग्य कराने का ही है। जैन शास्त्रों का सम्पूर्ण प्रयोजन तो जीव को पूर्ण वीतरागता कराने का ही है; किन्तु जो जीव पूर्ण वीतरागता का पुरुषार्थ न कर सके उसको भी जैनशास्त्र किसी प्रकार से अतत्व-श्रद्धान मन्द कराते हैं, तीव्र अशुभ भावों को छुड़ाते हैं और तीव्र मिथ्यात्व को कम कराते हैं। अन्य मत के शास्त्रों में किसी प्रसंग पर यदि राग को कम करने के लिये कहा हो तो दूसरी जगह राग से धर्म मनवाकर राग करने का उपदेश होता है। इस प्रकार वे शास्त्र अतत्वश्रद्धान और मिथ्यात्व के पोषक हैं; इससे वे असत्शास्त्र पठन-श्रवण करने योग्य नहीं हैं।

सत्शास्त्र स्वाधीनता को बतलाकर वीतरागता की पुष्टि करते हैं।

जो शास्त्र ऐसा बतलाते हैं कि देव, गुरु, शास्त्र के अवलम्बन से और उनके प्रति राग से धर्म होगा, उन्हीं को जीवों को शरण है, वे शास्त्र जीव को पराधीनता बतलाकर राग का ही पोषण करानेवाले हैं, वे सत्शास्त्र नहीं हैं। सत्शास्त्र तो ऐसा बतलाते हैं कि देव-गुरु-शास्त्र का अवलम्बन भी आत्मा के धर्म के लिये नहीं है, उसका भी लक्ष्य छोड़कर अपने स्वभाव का लक्ष्य कर!—ऐसी स्वाधीनता और वीतरागता दर्शाते हैं।

यदि शास्त्रों में युद्ध आदि का वर्णन हो तो वह विकथा नहीं, किन्तु वैराग्य पोषक कथा है।

तीर्थंकर भगवान के पास इन्द्र नृत्य करते हैं, वहाँ शृंगारभाव की पुष्टि का हेतु नहीं है, किन्तु अपना अशुभराग छोड़कर वीतराग जिनदेव के प्रति भक्ति का, और लोगों को भी भक्ति-प्रेम कराने का तात्पर्य है; इसप्रकार उसमें भी जीव कुमार्ग से बचकर सत्धर्म की ओर उन्मुख हो—ऐसा हेतु है। इसलिये यदि सत्शास्त्र में नृत्यादि का वर्णन आये तो वह विकथा नहीं है। शास्त्र में विकथा के चार प्रकार कहे हैं; उनमें जो शब्द हैं वह विकथा नहीं है। स्त्रियों के अंगोपांग इत्यादि का एवं युद्ध आदि का वर्णन तो निर्ग्रन्थ मुनिराज भी करते हैं; मात्र उनका वर्णन करना

या सुनना वह विकथा नहीं है किन्तु उसका रुचिपूर्वक अथवा रागपूर्वक श्रवण करना सो विकथा है। आचार्य-संत जिसका वर्णन करते हैं वह तो वैराग्यपोषक कथा है। इससे भावानुसार वीतरागी कथा और विकथा कही जाती है, किन्तु मात्र शब्दों के ऊपर से उसका माप नहीं है। सत्शास्त्रों में जो वर्णन होता है वह किसी न किसी प्रकार से वीतरागभाव का ही पोषक होता है; इससे उसमें विकथा नहीं किन्तु वैराग्यपोषक कथा ही है।

जो राग-द्वेष-मोह की पुष्टि करते हैं वे शास्त्र नहीं, किन्तु शस्त्र हैं।

"जिन शास्त्रों में किसी प्रकार से राग-द्वेष-मोहभावों का निषेध करके वीतरागभाव का हेतु प्रगट किया हो वही शास्त्र पढ़ने-सुनने योग्य हैं, किन्तु जिन शास्त्रों में शृंगार, भोग, कुतूहलादि पोषक रागभावों का तथा हिंसा, युद्धादिक पोषक द्वेषभावों का और अतत्वश्रद्धान पोषक मोहभावों का प्रयोजन प्रगट किया हो वे शास्त्र नहीं किन्तु शस्त्र हैं; कारण कि—राग-द्वेष-मोहभावों के द्वारा जीव अनादि काल से दुःखी हो रहा है, उनकी वासना तो जीव को बिना सिखलाये भी थी, तथापि इन शास्त्रों के द्वारा उसीका पोषण किया है। वहाँ पर उन्हें अच्छा होने के लिये क्या शिक्षा दी? मात्र जीव के स्वभाव का ही घात किया।'

(गुजराती मोक्षमार्ग-प्रकाशक पृष्ठ १५)

प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव से स्वतंत्र है–ऐसा तत्व-स्वरूप है। जिस ग्रन्थ में एक तत्व को दूसरे तत्व के आश्रित बताया हो, अथवा एक तत्व दूसरे तत्व का कुछ कर सकता है–ऐसा स्वीकृत करवाया हो वह शास्त्र नहीं किन्तु शस्त्र है; क्योंकि वह जीव के सम्यग्दर्शनादि गुणों का घातक है और मिथ्यात्व का पोषक है। जिसमें राग-द्वेष-मोह की पुष्टि की हो वह शास्त्र नहीं है क्योंकि राग-द्वेष-मोह तो जीव अनादि से ही कर रहा है। अनादि काल के राग-द्वेष-मोह से बचाकर मोक्षमार्ग में लगाने के लिये सत्‌शास्त्र निमित्त हैं।

जिनेन्द्रदेव की पूजा में वीतरागता का प्रयोजन किस प्रकार है ?

प्रश्न:—जैन-शास्त्रों में तो राग-द्वेष-मोह को कम करने का ही प्रयोजन है, तब फिर जिनेन्द्रदेव की अष्टप्रकार से पूजन करे और उसमें फल-फूलादि चढ़ाये—यह किसलिये करना चाहिये ? इसमें तो हिंसा होती है।

उत्तर:—वहाँ भी राग को घटाने का ही हेतु है। बाह्य पदार्थों की क्रिया तो आत्मा कर नहीं सकता, किन्तु वीतरागता की भावना से अपने राग को कम करता है। हे प्रभो ! जिनेन्द्रदेव ! आप वीतराग हो, आप की साक्षी से मैं इन फलादि वस्तुओं के प्रति अपने रागको कम करता हूँ, और मोक्ष-फल की प्राप्ति की भावना करता हूँ—ऐसी भावना से, वीतरागदेवरूप निमित्त के लक्ष्य से अपने राग को मन्द करता है; फलादि चढ़ाने की क्रिया स्वयं उसकी योग्यता से

होती है। जैनधर्म में भगवान को प्रसन्न करने के हेतु से फल पुष्प आदि नहीं चढ़ाये जाते और भगवान की प्रतिमा पर तो कुछ भी नहीं चढ़ाया जाता; किन्तु स्वयं वीतराग होने की भावना से भगवान की पूजा की जाती है। आत्मा की पहिचान होने से पूर्व जिनपूजा–इत्यादि शुभराग करके अशुभराग को दूर करे–इसका कोई निषेध नहीं है। भगवान एक आत्मा थे और मैं भी एक आत्मा हूँ, जैसा परिपूर्ण स्वरूप भगवान का है वैसा ही मेरा भी है—ऐसा परिपूर्ण स्वभाव का भान होने के पश्चात् भी स्वयं साक्षात् वीतराग नहीं हुआ है और वर्तमान में साक्षात् वीतरागदेव निमित्तरूप से उपस्थित नहीं हैं, इससे वीतराग-मुद्रित प्रतिमा में वीतरागदेव की स्थापना करके और उसकी पूजा करके वर्तमान में अपने अशुभराग को दूर करता है और शुभराग को भी दूर करके वीतराग होने की भावना करता है। इसप्रकार जैनशास्त्रों में वीतरागता का ही उपदेश है, और किसी स्थान पर अशुभराग को दूर करने के लिये शुभ का अवलम्बन भी वतलाया है, किन्तु वह शुभराग करने के लिये नहीं है, मात्र वह अशुभराग को दूर करने के लिये है। सत्‌शास्त्रों का मूल अभिप्राय जीवों को मोक्षमार्ग में प्रवृत्त करने का ही है।

इसप्रकार सत्‌शास्त्र कैसे होते हैं–उनका स्वरूप कहा।

(६) वक्ता का स्वरूप

कैसे वक्ता का उपदेश श्रवण करने योग्य है ?

जिसमें लाखों–करोड़ों का लेन-देन होता हो—ऐसी दुकान

का कार्य दस रुपये मासिक वाला मन्दबुद्धि पुरुष नहीं संभाल सकता, किन्तु कोई अधिक वेतन वाला बुद्धिशाली पुरुष ही उस कार्य को संभालता है। वैसे ही जिनके पूर्ण परमात्म-दशारूप स्वरूप-लक्ष्मी प्रगट हुई है—ऐसे श्री वीतरागदेव की परम्परा में रहकर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप वीतरागधर्म का उपदेश करने वाला जीव श्रद्धा–ज्ञानादि अनेक गुणों का धारी होना चाहिये और अध्यात्म-विद्या में पारंगत होना चाहिये। जिन्हें अध्यात्मरस द्वारा अपने स्वरूप का अनुभव न हुआ हो ऐसे जीव वीतरागी जिनधर्म का यथार्थ उपदेश नहीं दे सकते और ऐसे वक्ता के निकट शास्त्र-श्रवण करने से जीव को आत्मलाभ नहीं होता। इसलिये यथार्थ आत्मज्ञानी पुरुष को पहिचानकर उनके निकट आत्मस्वभाव का उपदेश सुनना योग्य है।

वक्ता को सर्वप्रथम तो जैनश्रद्धान में दृढ़ होना चाहिये। राग-द्वेषरूप दोप मेरी अवस्था में क्षणिक हैं और उन्हें जीतने वाला मेरा स्वभाव त्रैकालिक शुद्ध है—ऐसी श्रद्धा हो उसका नाम जैनश्रद्धा है। जो अपने शुद्धस्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता के द्वारा राग-द्वेप-मोह को जीत लेता है उसके जैनत्व प्रगट होता है। जिसे अपने शुद्धात्मस्वभाव की प्रतीति न हो वह अन्य जीवों को शुद्धात्मस्वभाव का उपदेश किस प्रकार दे सकता है?

जैन कौन है ?

जैन अर्थात् जीतने वाला। किसे जीतना है और जीतने

वाला कौन है वह जानना चाहिये। आत्मा परद्रव्यों से तो भिन्न है किन्तु एक आत्मा में दो पक्ष हैं—एक तो त्रैकालिक स्वभाव, और दूसरी वर्तमान अवस्था। उसमें जो त्रैकालिक स्वभाव है वह तो शुद्ध ही है, उसमें कुछ नहीं जीतना है, किन्तु वर्तमान अवस्था में जो दोष है उसे जीतना है। किन्हीं परपदार्थों को नहीं जीतना है—जीत ही नहीं सकता; और किन्हीं परपदार्थों की सहायता से भी नहीं जीतना है—जीत भी नहीं सकता; किन्तु अपनी वर्तमान पर्याय परलक्ष से होने के कारण दोषयुक्त है, उस पर्याय का स्वभावोन्मुख करके दोष को जीतना है, और वह अपने से हो सकता है। अपने त्रैकालिक स्वभाव की यथार्थ श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक स्व-स्वरूप में स्थिरता करके अवस्था के दोष को जीतना है। इसप्रकार जीतने वाला आत्मा और जीतना भी अपने में ही है। इसप्रकार दोनों पक्षों को अपने में जानकर त्रैकालिक स्वभाव की रुचि के पुरुषार्थ से जो वर्तमान पर्याय के दोष को जीते वह जैन है। इसप्रकार जैनधर्म किसी घेरे में, संप्रदाय में, वेष में या शरीर की क्रिया में नहीं है किन्तु आत्मस्वरूप की पहिचान में ही जैनधर्म है-जैनत्व है। मैं अपने त्रैकालिक स्वभाव की श्रद्धा–ज्ञान–स्थिरता द्वारा वर्तमान क्षणिक पर्याय के दोषों को जीतनेवाला हूँ—ऐसा जो जीव अभ्यन्तर मार्ग में श्रद्धालु है-वही वीतरागधर्म का उपदेश दे सकता है।

मैं अपने स्वभाव से परिपूर्ण हूँ, मेरे गुण परिपूर्ण ही हैं, गुण कहीं कम नहीं होगये हैं, और पर्याय में मेरे दोष

से विकार है किन्तु मेरे गुणस्वभाव में वह विकार नहीं है। विकारों को दूर करके निर्मल पर्याय बाहर से नहीं लाना है, किन्तु मेरे परिपूर्ण गुण वर्तमान है उनमें एकाग्रता करने से पर्याय का विकास होकर निर्मलता प्रगट होती है। किसी अन्य के कारण से विकार नहीं हुआ है और न दूसरे के अवलम्बन से वह दूर ही होता है। ऐसी अपने परिपूर्ण गुणों की प्रतीति द्वारा पर्याय के अवगुण को जानकर जो उसे दूर करता है वह जैन है। चौथे गुणस्थान मे सम्यग्दर्शन प्रगट होने से यथार्थ जैनत्व प्रारम्भ होता है, अथवा जो जीव सम्यग्दर्शन के सन्मुख हो उसे भी जैन कहा जाता है। और तेरहवे गुणस्थान में जो जिनदशा प्रगट होती है वह सम्पूर्ण जैनत्व है, उसके राग-द्वेष को जीतना शेष नहीं रहा। जैनधर्म वस्तु का स्वरूप है; जगत के जड़-चेतन पदार्थों का यथार्थ स्वरूप बतलाने वाला जो जैनदर्शन है—वही विश्वदर्शन है। जिसे सम्पूर्ण राग-द्वेप को जीतने वाले अपने वीतरागस्वरूप का भान है, किन्तु अभी पूर्ण राग-द्वेप को जीता नहीं है वह छद्मस्थ जैन है और वीतरागस्वरूप के भानपूर्वक जिसने सम्पूर्ण राग-द्वेप को जीता है वह पूर्ण जैन है। ऐसे ही पुरुष जैनदर्शन के रहस्य के वक्ता हो सकते हैं।

लाभ—हानि

प्रश्न:—आत्मा को लाभ-हानि का कारण कौन है ?

उत्तर:—लाभ का कारण है आत्मद्रव्य के ओर की उन्मुखता, और हानि का कारण है परलक्ष से होनेवाला

क्षणिक पर्याय में विकार। स्वयं आत्मद्रव्य हानि का कारण नहीं है। जो पर्याय सम्पूर्ण द्रव्य को कारणरूप से अंगीकार करती है (अर्थात् स्वलक्ष में एकाग्र होती है) उस पर्याय में लाभ प्रगट होता है। किन्तु यदि क्षणिक पर्याय के लक्ष में रुक जाये तो पर्याय में लाभ प्रगट नहीं होता। परवस्तु तो कहीं आत्मा को लाभ-हानि का कारण है नहीं; लाभ या हानि तो अवस्था में होते हैं, इससे वास्तव में तो जिस-जिस पर्याय में लाभ-हानि होते हैं उसका कारण वह अवस्था स्वयं ही है; अवस्था स्वयं अपनी योग्यता से शुद्धता अथवा अशुद्धतारूप परिणमित होती है। त्रैकालिक स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरतारूप परिणमन वह लाभ है, और परवस्तु से मुझे लाभ-हानि होते हैं—ऐसी मान्यता वह महान हानि है। किन्तु परवस्तु कहीं लाभ या हानि नहीं करती।

वक्ता के कारण श्रोता को, अथवा श्रोता के कारण वक्ता को लाभ-हानि नहीं होते।

प्रश्नः—यदि वक्ता सच्चा हो तो सुननेवालों को लाभ होता है और वक्ता मिथ्या हो तो हानि होती है, तब फिर परपदार्थों से लाभ-हानि नहीं होते—ऐसा क्यों कहते हैं?

उत्तरः—श्रोताओं को वक्ता के कारण लाभ-हानि नहीं होते, किन्तु अपने भाव के कारण ही होते हैं। श्रोताओं का ज्ञान अपने पास है और वक्ता का ज्ञान उसके पास है; दोनों स्वतंत्र हैं। सुननेवाले लाखों मनुष्य धर्म प्राप्त करलें

तो उसका वक्ता को किंचित् लाभ नहीं है; किन्तु वक्ता स्वयं अपने सम्यक्भाव का जो अंतरंग-मंथन करता है उसीका लाभ है। उसी प्रकार तत्व की विपरीत प्ररूपणा करनेवाले के सन्मुख यदि लाखों मनुष्य उल्टा समझें तो उसको किंचित्-मात्र हानि नहीं है, किन्तु वह स्वयं अपने में विपरीत मान्यता का जो मंथन कर रहा है—वही उसे अनन्त-संसार का कारण है जो यथार्थ समझे उसका लाभ समझनेवाले को है और यदि विपरीत समझे तो उसकी हानि भी समझनेवाले को स्वयं है। सुननेवाले सच्चा समझें या विपरीत समझें—उसका लाभ-हानि वक्ता को नहीं है और वक्ता के भावों का लाभ-हानि श्रोताओं को नहीं है। किन्तु ऐसा नियम अवश्य है कि—जिज्ञासु जीव को सत्य आत्मस्वभाव समझने की तत्परता के समय आत्मज्ञानी वक्ताओं का ही निमित्त होता है, किन्तु अज्ञानी वक्ता का निमित्त नहीं होता।

वक्ता के मूल लक्षण

यथार्थ श्रद्धा और यथार्थ ज्ञान—यह वक्ता के मूल लक्षण हैं। यथार्थ श्रद्धा ही आत्मा के सर्व धर्मों का स्तम्भ है। जिसे आत्मज्ञान हो उसका समस्त ज्ञान सम्यक् है और जिसे आत्मज्ञान न हो उसका समस्त ज्ञान मिथ्या है। अज्ञानी के सत्शास्त्र की जानकारी, श्रवण—मनन—सब मिथ्या ज्ञान हैं। और ज्ञानी के युद्ध का ज्ञान, शस्त्रों आदि सबन्धी ज्ञान—वह सब सम्यक् ज्ञान है। यथार्थ श्रद्धायुक्त सम्यग्ज्ञानी वक्ता यदि त्यागी न हो, तो भी उसकी प्ररूपणा यथार्थ है, किन्तु अज्ञानी

जो प्ररूपणा करता है वह यथार्थ नहीं होती। इसलिये वक्ता को प्रथम तो जैनश्रद्धान में दृढ़ होना चाहिये।

आत्मा तो वाणी का कर्ता नहीं है, तब फिर 'वक्ता को जैनश्रद्धान में दृढ़ होना चाहिये'—ऐसा क्यों कहा ?

प्रश्नः—यहाँ पर वक्ता का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि वक्ता को जैनश्रद्धान में दृढ़ होना चाहिये। किन्तु जो शब्द बोले जाते हैं उनका कर्त्ता तो आत्मा नहीं है; जैसी भाषावर्गणा लेकर आया होगा वैसे ही शब्द परिणमित होंगे। तब फिर वक्ता जैनश्रद्धान में दृढ़ होना चाहिये—ऐसा कहने का क्या तात्पर्य है ?

उत्तरः—ज्ञानी और अज्ञानी—दोनों की वाणी के शब्द तो जड़ के कारण से ही परिणमित होते हैं, किन्तु ज्ञान का और वाणी के परिणमन का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। जब तक जीव को सम्यग्ज्ञान न हुआ हो तबतक तो उसे पूर्व के विकास (क्षयोपशम) अनुसार ज्ञान है, और वाणी अपने कारण से निकलने योग्य हो उस समय उस ज्ञान के अनुसार वाणी के शब्द स्वयं ही होते हैं; यानी जिसकी वाणी में मिथ्या ज्ञान निमित्तरूप हो वह जीव यथार्थ वक्ता नहीं हो सकता; और जिस जीव के सम्यक्ज्ञान प्रगट हुआ है उसका समस्त ज्ञान वर्तमान पुरुषार्थ से है, पूर्व का विकास भी उसके वर्तमान पुरुषार्थ में एकमेक हो गया है; और वाणी के शब्द उसके सम्यक्ज्ञान के अनुसार हैं। जिसकी वाणी में

सम्यक्ज्ञान निमित्तरूप हो वही यथार्थ वक्ता हो सकता है। ज्ञानी और अज्ञानी दोनों की वाणी के शब्द तो जड़ के कारण से ही परिणमित होते है, किन्तु जब वाणी परिणमित होती है तब ज्ञान का और वाणी के परिणमन का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। जिस वाणी में सम्यग्ज्ञान का निमित्त हो वही वाणी अन्य जीवों को प्रथम सम्यक्ज्ञान प्रगट करने में निमित्त-रूप हो सकती है। किन्तु जिस वाणी में मिथ्या ज्ञान का निमित्त हो वह वाणी अन्य जीवों को प्रथम सम्यक्ज्ञान प्रगट करने का निमित्त नही होती।

(८) पूर्व का विकास और वर्तमान पुरुपार्थ सम्बन्धी स्पष्टीकरण।

प्रश्न:—शास्त्र के शब्दों का जो ज्ञान होता है उसका कारण तो पूर्वपुण्य है न ? अर्थात् ज्ञान का और शास्त्र का संयोग तो पूर्वपुण्य के अनुसार है न ?

उत्तर:—यह प्रश्न उल्टा है। पूर्व कर्मो को देखना है कि वर्तमान के ज्ञान का पुरुषार्थ देखना है ? शास्त्र के शब्दों का संयोग नहीं देखना है, किन्तु ज्ञान में वर्तमान कैसा पुरुषार्थ है वह देखना है।

यथार्थ दृष्टि से रहित, मात्र परलक्ष से ज्ञान का जो विकास है वह पूर्वोदय है, और वर्तमान मन्दकषाय से नया विकास हुआ हो, तो वह भी परलक्षी होता है; और जहाँ दृष्टि परिवर्तित हुई, तथा स्वाश्रय से सम्यग्ज्ञान

प्रगट हुआ वहाँ सम्पूर्ण ज्ञान वर्तमान पुरुषार्थ से हुआ है। पूर्व का विकास था वह सब नवीन पुरुषार्थ में एकमेक होकर सम्यग्ज्ञानरूप हो गया है। जहाँ स्वभावदृष्टि हुई वहाँ पर के ऊपर से, निमित्त अथवा पुण्य पर से दृष्टि हट गई और स्वभाव की ओर दृष्टि होने से पुरुषार्थ की उन्मुखता बदली इससे वर्तमान अपूर्व सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ। वहाँ वाणी का योग भी सम्यक् ही होता है—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। किसी सम्यग्ज्ञानी को वाणी का योग न हो, ऐसा हो सकता है, किन्तु यदि उसे वाणी का योग हो तो वह सम्यक्-वाणी ही होती है।

स्वभावोन्मुख होना ज्ञान का प्रयोजन है।

शास्त्र के संयोग या वाणी के शब्द इत्यादि पर-सन्मुख देखने का प्रयोजन नहीं है, अपनी अवस्था को देखने का भी प्रयोजन नहीं है, किन्तु पर्याय त्रैकालिक स्वभाव की ओर उन्मुख हो और द्रव्य-पर्याय एकाकार हों—यही प्रयोजन है। यह प्रयोजन समझे बिना जीव का पुरुषार्थ यथार्थ नहीं है; जिसने स्वभाव की दृष्टि की है वह पर-निमित्तों को तो मात्र ज्ञेयरूप ही जानता है, और पूर्ण स्वभाव की दृष्टि से उसका पुरुषार्थ है; अर्थात् उसे पूर्ण स्वभाव की दृष्टि, वर्तमान अवस्था का विकास और निमित्तों का ज्ञान—यह तीनों यथार्थ हुए।

शब्दों का या पूर्व के विकास का यहाँ प्रयोजन नहीं है, समझनेवाले का लक्ष उनके ऊपर नहीं होता किन्तु स्वभाव

पर होता है। समझनेवाला अपने वर्तमान पुरुषार्थ को देखता है, और बातूनी का लक्ष पर के ऊपर होता है, तथा वह निमित्त के संयोग को देखता है। वर्तमान में पुरुषार्थ किस ओर कार्य करता है—वह देखना है।

वाणी कैसी निकल रही है—उसका काम नहीं, और आत्मा में से जो अवस्था प्रगट होती है वह कैसी प्रगट होती है—उसके लक्ष का भी काम नहीं है, परन्तु अवस्था के पिण्डरूप वस्तु कैसे स्वभाववाली है—उसीका लक्ष करने का प्रयोजन है। उस वस्तुस्वभाव को देखने वाले की अल्पकाल में ही मुक्ति है। वह वस्तु को मुक्त-स्वरूप ही जानता है।

शास्त्र ऐसा बतलाते हैं कि आत्मा और परमाणु भिन्न हैं। इसे जानने का हेतु यह नहीं है कि परमाणुओं की कैसी अवस्था होती है, किन्तु अपना आत्मतत्त्व किस स्वरूप से पर से मुक्त है—वह समझकर स्वभाव की ओर लक्ष करने का प्रयोजन है। आत्मस्वभाव की दृष्टि ही मुक्ति का कारण है।

संसार सम्बन्धी कार्यों में जितना ज्ञान का विकास है वह सब पूर्व का विकास है और वर्तमान राग से वह उपयोगरूप होता दिखाई देता है; अशुभभाव करते हुए भी उस समय लौकिक विकास होता दिखाई देता है। वहाँ जो पूर्व का विकास है वह प्रगट दिखाई देता है, किन्तु वर्तमान अशुभ भावों के कारण वह विकास नहीं हुआ है। और देव—गुरु-शास्त्र इत्यादि परलक्ष से कषाय की मन्दता के कारण ज्ञान का विकास वर्तमान में नवीन भी होता है; किन्तु यदि उसके

द्वारा स्वभाव की ओर उन्मुख होने का प्रयोजन सिद्ध न करे तो अज्ञानी के उस पुरुषार्थ को परमार्थ से पुरुषार्थ नहीं कहा जाता। और जिस जीव ने अपने वर्तमान पुरुषार्थ के द्वारा पूर्वोदय को स्वभावोन्मुख किया है। उस जीव को वर्तमान पुरुषार्थ ही है। उसके पूर्व का विकास वर्तमान पुरुषार्थ में एकमेक हो गया है। स्वभाव की ओर का विकास होने से वर्तमान वस्तुदृष्टि हुई और उससे पूर्व का समस्त ज्ञान वर्तमान पुरुषार्थ के कारण सम्यक्ज्ञान में मिल गया। जहाँ अशुभ राग का आश्रय है वहाँ पूर्व का विकास कार्य करता है, क्योंकि अशुभ राग के आश्रय से ज्ञान का विकास कैसे हो? अशुभ राग के फल में परलक्षी ज्ञान का भी विकास नहीं होता, इससे संसार के ओर की जितनी बुद्धि है वह वर्तमानभाव का फल नहीं है। आत्मा के धर्म के लिये पूर्व का परलक्षी विकास काम नहीं आता; उसमें तो वर्तमान अपूर्व पुरुषार्थ की आवश्यकता है। अपने स्वभाव की ओर उन्मुख होकर आत्मदृष्टि की उसमें वर्तमान का ही पुरुषार्थ है। आत्मा की ओर देखते हुए त्रैकालिक स्वभाव का आश्रय करके वर्तमान विकास होता है; सम्यग्दृष्टि के सम्पूर्ण विकास वर्तमान पुरुषार्थ से है; उसके जो पूर्व का विकास हो वह स्वभावोन्मुख होने से वर्तमान पुरुषार्थ के साथ एकमेक हो जाता है।

शुभभाव से तो वर्तमान में पर की ओर का नवीन विकास होता है, किन्तु किसी जीव के वर्तमान में अशुभभाव प्रवर्तमान

होने पर भी ज्ञान का विकास वढ़ता हुआ दिखाई देता है, वहाँ अशुभभावों के कारण वह विकास नहीं हुआ, किन्तु उन अशुभभावों के कारण पूर्व का जो अधिक विकास था वह भी उल्टा कम हो गया है।

पुरुषार्थ और प्रकृति के बीच एक महान भेद है। अज्ञानी-जन प्रकृति को देखते हैं, और ज्ञानी पुरुपार्थ को देखते हैं; आत्मा की पहिचान वर्तमान पुरुषार्थ से ही है। और आत्मा की पहिचान के बिना पर को जानने का जो विकास है वह वास्तव में प्रकृति का कार्य है। ज्ञान के विकास के साथ धर्म का सम्वन्ध नहीं है, किन्तु वर्तमान में ज्ञान का झुकाव किस ओर है—उसके साथ धर्म का सम्बन्ध है।

वर्तमान मन्दकषाय के पुरुपार्थ से भी ज्ञान का नवीन विकास होता है। निगोद से निकलकर मनुष्य होनेवाला जीव ग्यारह अग का ज्ञान करता है, उस जीव के ग्यारह अंग का विकास पूर्व का नहीं है, परन्तु वर्तमान में कपाय की मन्दता करके नवीन विकास करता है। इस प्रकार वर्तमान पुरुषार्थ से विकास हो सकता है, तथापि मिथ्यादृष्टि जीव के ज्ञान का विकास आत्मा का कोई भी प्रयोजनभूत कार्य नहीं कर सकता, इसलिये परमार्थ में उसके पुरुषार्थ को यथार्थ पुरुषार्थ नहीं माना गया; उसके ज्ञान में आराधकभाव नहीं है। यद्यपि उसने मन्दकपाय के पुरुपार्थ से वर्तमान में परलक्षी ज्ञान का विकास किया है, परन्तु आराधकभाव का अभाव होने से उसका पुरुषार्थ आत्मा से अभेदत्व नहीं रखता इसलिये उसके

पुरुषार्थ को परमार्थ से पुरुषार्थ नहीं माना गया। यदि वर्तमान में अपूर्व पुरुषार्थ द्वारा ज्ञान को स्व की ओर उन्मुख करके आत्मा में अभेद करे तो उसके आराधकभाव हो। आराधकभावयुक्त जो ज्ञानी का पुरुषार्थ है वह आत्मा के साथ अभेदत्व रखता है, इसलिये उसके जितना ज्ञान का विकास है वह वर्तमान पुरुषार्थ में एकमेक हो जाता है। आराधकभाव सहित ज्ञान का जो अंश है उसका आत्मा के साथ अभेदत्व होने से वह बढ़कर पूर्ण हो जायेगा, और आराधकभाव से रहित जो ज्ञान है उसका आत्मा के साथ अभेदत्व न होने से विराधकता के कारण वह अत्यन्त हीन हो जायेगा। वर्तमान अपूर्व पुरुषार्थ करके ज्ञान को स्वसन्मुख करना ही प्रयोजन है।

(९) निरपेक्ष परिणति

त्रैकालिक स्वभाव की ओर का वल वर्तमान पर्याय के विकार को अशक्त कर देता है। स्वभाव के लक्ष से पर्याय का परिणमन अंतरंगस्वभाव की ओर उन्मुख हुआ सो हुआ, अव स्वभाव के साथ एकाकार हुई उस पर्याय को वदलने के लिये लाखों संयोग निमित्तरूप से भी समर्थ नहीं हैं। जो पर्याय स्वभावोन्मुख हुई उसे पर पदार्थों के साथ क्या सम्वन्ध? स्वभाव की परिणति को किसी संयोग की अपेक्षा नहीं है, वह सबसे निरपेक्ष है।

(१०) सम्यग्दृष्टि जीव के ज्ञान की प्रवृत्ति कैसी होती है?

सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् पर्याय का वल द्रव्य के

ऊपर स्थिर रखकर ज्ञान स्व-पर को यथावत् जानता है। स्व के साथ पर का ज्ञान करना सो ज्ञान का यथार्थ व्यवसाय है।

स्वभावोन्मुख ज्ञान जब पर को जानता है, उस समय भी स्वभाव के साथ अभेदत्व रखकर जानता है, इससे वह सम्यग्ज्ञान है; वह ज्ञान पर को जानते समय भी स्वभाव की एकता से विमुख होकर नहीं जानता, और अज्ञानी जीव स्वभाव की एकता से विचलित होकर मात्र पर को जानता है; इससे वह पर में एकत्व मानता है, वह मिथ्याज्ञानी है। ज्ञानी स्वभाव के निर्णय से पर का ज्ञान करते हैं वहाँ बल तो वर्तमान पुरुषार्थ से द्रव्य के ऊपर है, यानी उन्हें पूर्व का देखना नहीं रहा। वर्तमान में पर के ऊपर दृष्टि नहीं है, किन्तु ज्ञान को स्वसन्मुख करके द्रव्य पर ही दृष्टि का बल प्रवर्तमान है—यही प्रयोजन है।

(११) सुख का यथार्थ कारण

(१) किसी जीव को एक कार्य करने का शुभभाव हुआ, (२) और उसके भावानुसार वाह्य का कार्य हुआ, (३) और जीव को संतोषभाव हुआ। इसमें शुभभाव, बाह्य का कार्य और संतोषभाव—यह तीनों स्वतंत्र हैं। शुभभाव हुआ, उसके कारण वाह्य का कार्य नहीं हुआ; और बाह्य का कार्य हुआ उसके कारण संतोष नहीं हुआ; और जो शुभराग हुआ उसके कारण भी संतोष नहीं हुआ। प्रथम जो कार्य करने की आकुलतारूप भाव था वह भाव हट जाने से स्वयं को संतोष हुआ मानता है। वाह्य का जो कार्य हुआ वह

तो परद्रव्य के कारण से स्वयं हुआ है। अर्थात् वास्तव में वाह्य का कोई भी कार्य जीव को संतोष का कारण नहीं है। जीव के अपने स्वभाव की दृष्टि न होने से, एक आकुलता भाव से हटकर उसी समय दूसरा शुभ या अशुभभाव करके वह आकुलता का ही वेदन किया करता है, इससे सच्चा अनाकुल संतोष उसके अनुभव में नहीं आता। शुभाशुभ–दोनों भाव आकुलतारूप होने से दुःख के कारण हैं, और उन शुभाशुभ भावों के हट जाने से उनसे रहित जो स्वभाव है, वही अनाकुलतास्वरूप होने के कारण उसके लक्ष से अनाकुल संतोष का वेदन होता है। जिसे अपने अनाकुल स्वभाव का लक्ष नहीं है वह जीव एक आकुलताभाव को वदलकर तत्क्षण परलक्ष से नवीन आकुलताभाव करता है, और दुःख का ही अनुभव करता है। कदाचित् मन्द आकुलता हो तो उसमें वह सुख की कल्पना करता है; किन्तु वास्तव में वह दुःख ही है। अपने स्वभाव का लक्ष करके यदि शुभाशुभ भावों के लक्ष–श्रद्धा से विचलित हो जाये तो उसे स्वभाव की प्रतीति और सम्यग्ज्ञान हो और स्वभाव के अनाकुल सुख का अंशतः वेदन हो; तब वह अनाकुलता और आकुलता के बीच जो भेद है उसे जाने और मन्द आकुलता (शुभभाव) में भी वह सुख न माने।

प्रारम्भ में जो तीन प्रकार वतलाये हैं उनमें (१) जो शुभभाव है वह विकार है और उसका वेदन दुःखरूप है, (२) जो वाह्य का कार्य है उसके साथ जीव का सम्बन्ध

नहीं है, और उसका वेदन भी जीव के नहीं है। (३) जो संतोषभाव है वह यदि परलक्ष से हो तो मन्द आकुलता है, और वास्तव में वह दुःख है, तथा आत्मस्वभाव के लक्ष से संतोषभाव हो तो वह अनाकुलभाव है और वही सच्चा सुख है। इसलिये आत्मस्वभाव की पहिचान ही सुख का उपाय है।

(१२) ज्ञानीजन पूर्ण स्वभाव को बतलाते हैं

हे आत्मा! तू अपने स्वभाव से परिपूर्ण है। जो भी वस्तु हो वह अपने स्वभाव से स्वाधीन और परिपूर्ण ही होती है, किन्तु पराधीन या अपूर्ण नहीं होती। किन्तु स्वयं अपने स्वतंत्रस्वभाव को भूलकर 'मेरे सुख के लिये मुझे पर-पदार्थों की आवश्यकता है'—ऐसी मिथ्या-कल्पना करके अवस्था में पराधीन हुआ है और यह पराधीनता ही दुःख है। मैं आत्मा हूँ, परपदार्थों से भिन्न हूँ, परपदार्थों की मुझमें नास्ति है, पर के आधीन मेरा सुख नहीं है मैं स्वाधीन, पूर्ण, निर्विकार हूँ—ऐसी स्वभाव की श्रद्धा करने से स्वाधीन निर्मल दशा प्रगट होती है—वही सुख है।

वस्तु के द्रव्य–गुण–पर्याय तीनों स्वाधीन, हैं उनमें द्रव्य-गुण तो निरंतर एकरूप परिपूर्ण हैं, और पर्याय में जो अपूर्णता है वह स्वयं ही की है, किसी अन्य ने नहीं कराई है। इस प्रकार यदि द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वाधीन स्वरूप को यथार्थ जाने तो अपने परिपूर्ण स्वाधीनस्वभाव की एकाग्रता द्वारा पर्याय की अपूर्णता को दूर करके पूर्ण दशा प्रगट करे।

पर्याय में विकार होने पर भी यदि विकाररहित पूर्ण स्वभाव का विश्वास और महिमा लाकर उसकी श्रद्धा–ज्ञान करे तो पूर्ण स्वभाव के अवलम्बन से पर्याय की पूर्णता प्रगट करे—इसी का नाम मोक्ष है। किन्तु जो अपने पूर्ण स्वभाव का विश्वास और महिमा न करे तथा विकार एवं पर की महिमा में ही रुक जाये वह कभी भी विकार का नाश करके पूर्ण होने का पुरुषार्थ प्रगट नहीं कर सकेगा।

पर्याय में परिपूर्ण ज्ञानशक्ति का अविश्वास सो संसार, पर्याय में परिपूर्ण ज्ञानशक्ति की श्रद्धा सो साधकदशा अर्थात् मोक्षमार्ग; और पर्याय में परिपूर्ण ज्ञानशक्ति का प्राकट्य सो मोक्ष।

अपनी स्वभावशक्ति को भूलकर जीव अनादि काल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। एक क्षणमात्र भी यदि अपने स्वभाव को पहिचाने तो अल्पकाल में संसार का अन्त आये बिना न रहे। इसलिये हे जीव! तेरी पर्याय में विकार और अपूर्णता होने पर भी तेरा स्वभाव तो इस समय भी विकाररहित परिपूर्ण है, उसे तू मान और पहिचान ले। पर्यायदृष्टि से अपने आत्मा को अनादि काल से विकारी मान रहा है, इससे विकारभावों का वेदन करके संसार में दुःखी हो रहा है। अब वह पर्यायदृष्टि छोड़कर एक बार स्वाभावदृष्टि से देख तो तुझे अपने पूर्ण विकाररहित स्वभाव का अनुभव हो और तेरे संसार-दुःख का अन्त आजाये।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव समयप्राभृत में आत्मस्वरूप

की पूर्णता दर्शा कर अनादि की पर्यायदृष्टि को छुड़ाते हैं। गाथा ७७ में कहा है कि:—

"छुं एक शुद्ध ममत्वहीन हुं ज्ञान दर्शन पूर्ण हुं,
एमां रही स्थित लीन एमां शीघ्र आ सौ क्षय करूं।"

आत्मा का स्वभाव ज्ञान-दर्शन से पूर्ण शुद्ध है; अपने स्वभाव को भूलकर पर्याय में विकार करे तो उस समय भी स्वभाव में से कुछ घट नहीं जाता, और स्वभाव का भान करके शुद्ध पर्याय प्रगट करे तो उस समय भी स्वभाव में कुछ वृद्धि नहीं हो जाती। स्वभाव तो निरंतर परिपूर्ण ज्यों का त्यों ही है। इसलिये पर्याय में विकार हो उसका लक्ष्य छोड़कर पूर्ण स्वभाव को प्रतीति में लेना ही पूर्णता प्रगट होने का कारण है।

प्रश्न:—अपूर्णता और विकार तो वर्तमान पर्याय में दिखाई देते हैं, इसलिये उन्हें मान सकते हैं; किन्तु पूर्ण स्वभाव तो वर्तमान में दिखाई नहीं देता, फिर उसे कैसे माना जाये ?

उत्तर:—जो वस्तु हो वह अपने स्वभाव से अपूर्ण अथवा विकारी नहीं हो सकती। वस्तु सत्‌रूप है कि असत्‌रूप ? वस्तु सत्‌रूप है और सत् स्वतः से परिपूर्ण है, वस्तु अनुभव में आने योग्य स्वभाव वाली है इसलिये अवश्य चेतन वस्तु का अनुभव हो सकता है।

अनादि से पर्यायदृष्टि से देखा है इसलिये विकाररूप ही

भासित होता है, पर्यायदृष्टि द्वारा पूर्णस्वभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। यदि पर्यायदृष्टि छोड़कर स्वभावदृष्टि से (द्रव्यदृष्टि से) देखे तो अपना स्वभाव प्रतिसमय पूर्ण है—ऐसा दिखाई देता है, उस स्वभाव में विकार का प्रवेश नहीं है।

हे भाई ! तू अन्तरंग से विचार कर कि पर्याय में जो ज्ञानादि का अंश है वह कहाँ से आता है ? तेरी पर्याय किसी भी समय, कहीं जड़रूप नहीं हो जाती, अंशतः ज्ञान तो प्रगट रहता है, तो वह ज्ञान कहाँ से आया ? जो अंश है वह पूर्ण के बिना नहीं होता। जो अंशतः ज्ञान प्रगट है, वह तेरे पूर्ण ज्ञानस्वभाव का ही परिणमन है। और पहले समय में ज्ञान अल्प होता है तथा दूसरे समय में अधिक होता है, तो वह अधिक ज्ञान कहाँ से आया ? पहली पर्याय में तो वह नहीं था; इसलिये प्रथम और द्वितीय-सभी अवस्थाओं में विद्यमान रहने वाला तेरा ज्ञानस्वभाव परिपूर्ण है और उसी का परिणमन होकर पर्याय में ज्ञान प्रगट होता है; इससे अपनी अपूर्ण ज्ञानपर्याय को गौण करके अपने लक्ष को स्वभाव की ओर विस्तृत कर तो पूर्णस्वभाव है, वह अनुभव में और प्रतीति में आये। और फिर ज्यों-ज्यों सम्यक्ज्ञान में वृद्धि होती है त्यों-त्यों राग भी बढ़ता हुआ देखने में नहीं आता किन्तु ज्यों-ज्यों सम्यग्ज्ञान में वृद्धि होती है त्यों-त्यों राग कम होता हुआ दिखाई देता है; क्योंकि ज्ञान का स्वभाव राग के अभावरूप है। पर्याय में रागादि विकारभाव होने पर भी वह आत्मा का स्वभाव नहीं है; इसलिये पर्यायरूप अंश

का और विकार का लक्ष छोड़कर अभेद, विकाररहित स्व-भाव की प्रतीति कर। पर को और विकार को तो अनादि से तू जानता है किन्तु अब सबके ज्ञाता–ऐसे अपने ज्ञानस्वभाव को जान।

जैसे—स्फटिक मणि में वर्तमान पर-संयोग से रंग की झलक दिखाई देने पर भी उसी समय स्फटिक का स्वभाव निर्मल है–ऐसा ज्ञान के द्वारा जाना जासकता है। वस्त्र वर्तमान में मलिन होने पर भी उसी समय उसका स्वभाव मैलरहित है-ऐसा जाना जा सकता है। उसीप्रकार आत्मा में जो वर्तमान मलिनता है वह उसका मूल स्वभाव नहीं है, किन्तु उसी समय आत्मा का स्वभाव तो निर्मल ही है–ऐसी श्रद्धा और ज्ञान तो विकार होने पर भी हो सकते हैं।

प्रश्नः—जो सम्पूर्ण विकाररहित हो गये हैं, वह तो अपने आत्मा के विकाररहित स्वभाव को जान सकते हैं और मान सकते हैं, किन्तु जिनकी पर्याय में विकार प्रवर्तमान है वे अपने आत्मा के स्वभाव को किस प्रकार विकाररहित जान और मान सकते हैं ?

उत्तरः—जो विकाररहित हुए हैं उन्होंने भी पहले से ही विकाररहित स्वभाव की श्रद्धा और ज्ञान किया था। यदि प्रथम ही विकाररहित स्वभाव न माने तो विकार दूर होता ही नहीं। पर्याय में विकार विद्यमान होने पर भी पूर्ण निर्वि-कार स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान हो सकते हैं। आत्मा में श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र—यह तीन मुख्य गुण हैं, उनमें से श्रद्धा और

चारित्र गुण विकाररूप में परिणमित होते हैं; किन्तु ज्ञान गुण कभी भी विकाररूप नहीं होता; उसमें मात्र हीनता होती है। निचलीदशा में अपूर्ण ज्ञान होने पर भी वह स्व-पर को जान सकता है। जो रागादि विकार होते हैं वह चारित्र का विकारभाव है, किन्तु ज्ञान कहीं रागरूप प्रवर्तन नहीं करता। ज्ञान तो ज्ञानरूप प्रवर्तन करता हुआ त्रैकालिक शुद्ध स्वभाव और विकार दोनों को जानता है। स्वभाव और विकार—दोनों का ज्ञान होते हुए भी अज्ञानी जीव पर्यायदृष्टि से विकार का स्वीकार करके स्वभाव का अस्वीकार करता है,—उसकी प्रतीति नहीं करता; अर्थात् वह पर्यायमूढ़ होरहा है, इससे विकार के समय भी अपना अविकारी स्वभाव है-वह उसके अनुभव में नहीं आता। किन्तु त्रैकालिक शुद्ध स्वभाव और पर्याय का विकार–इन दोनों को ज्ञान में जानकर जब जीव त्रैकालिक-स्वभाव की मुख्यता करता है और पर्याय के विकार को गौण करता है तब उसका ज्ञान स्वभाव–सन्मुख होता है; और उसे पर्यायमें विकार होने पर भी अविकारी स्वभाव का अनुभव होता है। तथा पूर्व में अनादिकाल से पर्यायदृष्टि के द्वारा आत्मा का मात्र विकारपर्याय जितना ही श्रद्धान करता था उस श्रद्धा का अभाव होकर उसी समय परिपूर्ण शुद्ध स्वभाव की श्रद्धा हुई—अर्थात् सम्यग्दर्शन हुआ। सम्यग्ज्ञान में स्वभाव की मुख्यता और विकार की गौणता है, तथा सम्यक्-श्रद्धा में स्वभाव की स्वीकृति और विकार की अस्वीकृति है। इस प्रकार श्रद्धा और ज्ञान के स्वसन्मुख पुरुषार्थ द्वारा, पर्याय के

विकार का लक्ष छोड़कर पूर्णस्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और अनुभव चाहे जब हो सकता है।

हे भव्य ! तेरा परिपूर्ण स्वभाव निरंतर विद्यमान है, उसमें कभी अपूर्णता या विकार नहीं है। अनादि से पर्याय में विकार होने पर भी तेरा स्वभाव ज्यों का त्यों स्थित है, इसलिये तू अपने स्वभाव को जान, उसकी प्रतीति कर और उसीमें एकाग्रता द्वारा स्थित हो, यही सुखी होने का उपाय है। इस सुख का उसी क्षण अनुभव होता है।

(१४) केवलज्ञान का अंश

संसार-अवस्था में जीव को ज्ञान–दर्शन के अधिकांश अंशों का तो अभाव होता है और कुछ अंशों का सद्भाव होता है। सम्यग्दृष्टि के जो मति–श्रुत ज्ञान प्रगट हैं वे तो केवलज्ञान के अंश हैं ही; किन्तु मिथ्यादृष्टि के जो मति-श्रुत ज्ञान प्रगट हैं वे भी केवलज्ञान के ही अंश हैं, क्योंकि जो प्रगटरूप ज्ञान है वह तो ज्ञान की ही जाति है इससे वे ज्ञान के ही अंश हैं। ज्ञानी और अज्ञानी–दोनों को जिस ज्ञान का विकास है वह केवलज्ञान का अंश होने पर भी, अज्ञानी जीव उस ज्ञान को स्वभाव-सन्मुख करके स्वभाव की प्रतीति नहीं करता, इससे उसका ज्ञान अज्ञानरूप है; और ज्ञानी उस ज्ञान को स्व-सन्मुख करके स्वभाव की प्रतीति करता है इससे उसका ज्ञान सम्यक्ज्ञान है।

(१५) ज्ञान की स्वाधीनता

जैसे, केवलज्ञान अपने सामान्य ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन

से परिणमित होता है और लोकालोक को जानता है; सामने लोकालोक उपस्थित है, किन्तु उसके अवलम्बन से केवलज्ञान नहीं जानता। उसीप्रकार प्रत्येक जीव अपने ज्ञानस्वभाव का अवलम्बन लेकर ही जानता है, किन्तु पर-पदार्थों के अवलम्वन से कोई जीव नहीं जानता। आत्मा ज्ञायक है—ऐसा किसी ने कहा और आत्मा को उसका ज्ञान हुआ; वहाँ पर ऐसे शब्द सुनकर ज्ञान नहीं हुआ कि 'आत्मा ज्ञायक है;' किन्तु सामान्य ज्ञान स्वयः विशेष ज्ञानरूप परिणमित होकर उस ज्ञान के द्वारा वह जाना है। 'आत्मा ज्ञायक है'—ऐसा कहने में असंख्य समय लगता है; अब, सामने वाला मनुष्य वह पूरा बोला ही नहीं उसके पहले तो उस सम्बन्धी ज्ञान का परिणमन (व्यंजनावग्रह) प्रारम्भ हो चुका है। यहाँ जिस समय सामान्यज्ञान विशेपरूप परिणमित हुआ और 'आत्मा ज्ञायक है' ऐसे ज्ञान का प्रारम्भ हुआ, उसी समय सन्मुख वैसे शब्दों का परिणमन प्रारम्भ हुआ; इस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय—दोनों का परिणमन एकसाथ होने पर भी ज्ञान ज्ञेय के अवलम्वन से नहीं होता, और ज्ञान के कारण ज्ञेय परिणमित नहीं होते। जिसप्रकार केवलज्ञान सर्व पदार्थों से निरपेक्षरूप से परिणमन करता है वैसे ही ज्ञान की प्रत्येक पर्याय भी पर से निरपेक्षरूप ही परिणमन करती है। इसप्रकार यदि निरपेक्ष ज्ञान की प्रतीति करे तो अपने सामान्य स्वभाव की ओर उन्मुखता हो और उसके अवलम्बन से सम्यग्ज्ञान प्रगट हो।

सामने वाले के शब्दों को सुना इससे ज्ञान प्रारम्भ हुआ—

ऐसा नहीं है; किन्तु सामने वाला क्या कहना चाहता है वह लक्ष में आने से पूर्व उसके आशय को समझने वाले ज्ञान का प्रारम्भ हो गया है। इससे शब्दों के अवलम्बन से ज्ञान का कार्य नहीं होता, किन्तु सामान्य ज्ञान के परिणमन से ज्ञान का कार्य होता है।

जिसप्रकार शब्दों के अवलम्बन से ज्ञान नहीं होता वैसे ही राग के अवलम्बन से भी ज्ञान नहीं होता। राग भी ज्ञान का ज्ञेय है। जिस समय राग हुआ उसी समय राग को जाननेवाला ज्ञान भी स्वयं प्रारम्भ हुआ है। अर्थात् ज्ञान का स्वभाव राग से भिन्न है। किन्तु अज्ञानी जीव ज्ञान और राग का एकमेक-रूप से अनुभव करते हैं। यदि राग और ज्ञान के भिन्नत्व की प्रतीति करके उनका भिन्न अनुभव करें तो भेदज्ञान हो।

(१६) ज्ञानी और अज्ञानी के अभिप्राय में अन्तर

चारित्र के दोष से ज्ञानी और अज्ञानी–दोनों के क्रोधादि कषाय हो, परन्तु उन दोनों के क्रोध में महान अन्तर है। अज्ञानी को जब क्रोध होता है तब वह अपने विपरीत अभिप्राय से ऐसा मानता है कि परवस्तु के कारण मुझे क्रोध होता है। परवस्तु को क्रोध का कारण मानने से वह परवस्तुओं पर द्वेष करके उन्हें दूर करना चाहता है; 'परवस्तु मुझे द्वेष का कारण है'–ऐसा निरंतर अभिप्राय होने से उसके क्रोध की लिप्सा बढ़ती ही रहती है; एक वस्तु का लक्ष छोड़ा कि उसी समय दूसरी वस्तु के प्रति उसे क्रोधादि भाव हुए बिना नहीं रहेंगे। अज्ञानी परवस्तु को क्रोध का कारण मानता

है इससे उसके विपरीत अभिप्राय में ही क्रोध विद्यमान है; जबतक वह विपरीत अभिप्राय है तबतक उसे क्रोध होता ही रहेगा, क्योंकि परवस्तुओं का तो कभी अभाव होना नहीं है; इसलिये जिसने पर के कारण क्रोधादि होना मान रखा है उसके क्रोधादिभाव कभी नष्ट नहीं होना हैं। और परवस्तुएँ अनन्त होने से उसके अभिप्राय में क्रोध भी अनन्तगुना है, और वह अनन्त-संसार का कारण है।

ज्ञानियों को जब क्रोध होता है तब वे परवस्तु को क्रोध का कारण नहीं मानते, इससे परवस्तु की इष्ट–अनिष्ट कल्पना नहीं करते; किन्तु अपने पुरुषार्थ की अशक्ति से क्रोध हुआ है–ऐसा जानकर उसे दूर करना चाहते हैं। 'मुझे परवस्तु से क्रोध होता है' ऐसा अभिप्राय न होने से उनके क्रोध की लार नहीं बढ़ती किन्तु पुरुषार्थ के बल से अल्पकाल में ही उसका नाश कर देते हैं। जो जीव परवस्तु को क्रोध का कारण मानता है उसका अभिप्राय विपरीत होने से परवस्तु की उपस्थिति में वह क्रोध को दूर नहीं कर सकेगा; परवस्तु की उपस्थिति कभी मिटने वाली नहीं है, इसलिये अज्ञानी के क्रोधादि भी कभी नष्ट नहीं होंगे। अज्ञान को दूर कर दे तो क्रोधादि नष्ट हों। ज्ञानीजन परवस्तु को क्रोध का कारण नहीं मानते, इसलिये परवस्तु की उपस्थिति होने पर भी स्वयं अपने क्रोध को दूर कर देते हैं। ज्ञानी के अभिप्राय में परवस्तु में इष्ट-अनिष्टता की मान्यता नहीं है, और अपने पुरुषार्थ के दोष से जो क्रोध होता है, उसे भी करने योग्य नहीं मानते; इससे

उनके अल्प क्रोध होता है और वह अनन्त-संसार का कारण नहीं है।

जब क्रोधादि होते हैं उस समय अज्ञानी पर को अनिष्ट जानकर उसके ऊपर द्वेष करता है; ज्ञानी तो क्रोध का भी वास्तव में ज्ञाता है, और परवस्तु का भी ज्ञाता ही है। उसके अभिप्राय में क्रोध-परिणमन के प्रति द्वेष नहीं और क्षमा-परिणमन पर राग नहीं है। ज्ञानी के भी किसी समय विशेष अशुभभाव होजाते हैं, किन्तु उसे उस परिणमन पर द्वेषबुद्धि नहीं है, लेकिन उसका ज्ञान करके वस्तुस्वभाव की एकाग्रता द्वारा उस अशुभभाव का नाश करता है। अज्ञानी जीव अशुभभावों पर द्वेष करके उन्हें टालना चाहता है, किन्तु उसे यह खबर नहीं है कि मेरा स्वभाव ही रागरहित है, उसका लक्ष करूँ तो यह अशुभराग नष्ट होजाये। क्रोध टालने का उपाय क्रोध के प्रति द्वेष नहीं, किन्तु उसके प्रति समभाव है। क्रोधपर्याय के लक्ष से यदि क्रोध का नाश करना चाहे तो वह नहीं हो सकता, किन्तु क्रोधपर्याय का लक्ष छोड़कर क्रोधरहित आत्मस्वभाव में लक्ष करके एकाग्र होने से क्रोध स्वयं नष्ट होजाता है; क्रोध-रहित स्वभाव के लक्ष में रहकर क्रोध का लक्ष छोड़ दिया उसका नाम 'क्रोध के प्रति समभाव' है; परलक्ष से समभाव नहीं रहता किन्तु अपने स्वभाव पर लक्ष करने से सभी के प्रति समभाव हो जाता है—ऐसा समभाव सम्यग्दृष्टि के ही होता है।

(१७) मुक्त होने का उपाय

त्रिकाल मुक्तस्वरूप स्वतंत्र तत्व की प्रतीति किये विना

मुक्त होने का पुरुषार्थ कार्यरूप नहीं हो सकता। 'मुझे मुक्त होना है'—ऐसी जो अभिलाषा होती है उसी में अन्तर्गत अपने मुक्तस्वरूप का ज्ञान आजाता है; क्योंकि मुक्तस्वरूप को जाने विना मुक्त होने की भावना कहाँ से आई? इसप्रकार जीव को मुक्तस्वरूप का ज्ञान तो होता है, परन्तु वह उसकी प्रतीति नहीं करता। जीव वन्धभाव की प्रतीति तो करता है किन्तु वन्धभाव से रहित जो मुक्तस्वभाव है उसकी प्रतीति नहीं करता; इसीसे उसका पुरुषार्थ मुक्ति के उपाय की ओर उन्मुख नहीं होता किन्तु पुण्य-पाप के वन्धभावों में ही रुक जाता है। यदि अपने मुक्तस्वरूप की प्रतीतिपूर्वक मुक्तस्वरूप के लक्ष से पुरुषार्थ को वढ़ाये तो उसे मोक्षमार्ग प्रगट होकर अल्पकाल में मुक्तदशा हुए विना न रहे। ज्ञान का विकास कम हो या अधिक, उसके साथ मुक्ति के पुरुषार्थ का सम्वन्ध नहीं है, किन्तु मुक्तस्वरूप का जो ज्ञान है—उसकी मुख्यता करके मुक्तस्वरूप की प्रतीति करने की प्रथम आवश्यकता है और वहीं से मुक्ति के उपाय का प्रारम्भ होता है। मुक्तस्वरूप की प्रतीति करना सो सम्यग्दर्शन है, और उस प्रतीति के द्वारा मुक्तस्वरूप का ज्ञान सो सम्यक्ज्ञान है। वह सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञानसहित पुरुषार्थ भी मुक्ति के सन्मुख होता है; इसलिये मुक्तस्वरूप की प्रतीति ही मुक्त होने का मूल उपाय है।

द्वितीय अध्याय

(१८) आत्मा और कर्म

अपने स्वरूप का भान न होने से जीव के जो विकार की उत्पत्ति होती है वह संसार है। अपने स्वरूप के भान से भूल का नाश सो मुक्तिमार्ग है। और अपने स्वरूप के भानपूर्वक स्थिरता द्वारा विकार का नितान्त अभाव वह मोक्ष है। जीव के संसारदशा और कर्म का सम्बन्ध अनादि से है, किन्तु वे एक-दूसरे की पर्याय को नहीं करते। कर्म जड़ परमाणुओं की अवस्था है, वह आत्मा की अवस्था में विकार नहीं कराता; और आत्मा उस जड़ की अवस्था का कर्ता नहीं है। अनादि से अपने यथार्थ स्वरूप को भूलकर जीव ने ऐसा माना है कि मैं विकारी हूँ, कर्म मेरी शक्ति को रोकते हैं, मैं शरीरादि जड़ की अवस्था कर सकता हूँ, और पुण्य करते-करते लाभ होगा—इसप्रकार स्वयं अपनी विपरीत मान्यता द्वारा मोहभाव करता है तब जड़ मोहकर्म को निमित्त कहा जाता है।

प्रश्न:—प्रथम आत्मा का विकार है या कर्म ?

उत्तर:—इसमें कोई प्रथम और पश्चात् नहीं है, दोनों अनादि से हैं। आत्मा और परमाणु—दोनों वस्तु हैं; वस्तु का कभी प्रारम्भ नहीं होता, अर्थात् वह अनादि होती है। और वस्तु कभी पर्यायरहित नहीं होती, उसकी कोई न कोई पर्याय अवश्य ही होती है। अनादि से जीव की पर्याय विकारी है, क्योंकि यदि विकारी पर्याय न हो तो संसार भी न हो। और

कर्म जड़ परमाणुओं की अवस्था है, वह भी अनादि से है। जीव का विकार और कर्म–दोनों प्रवाहरूप से अनादि से हैं। प्रथम जीव ने विकार किया और पश्चात् कर्म हुए–ऐसा नहीं है; अथवा पहले कर्म थे फिर जीव ने विकार किया–ऐसा भी नहीं है। आत्मा और कर्म में प्रथम–पश्चात् कोई न होने पर भी ज्ञान में दोनों यथावत् ज्ञात होते हैं। दोनों हाथ मिले, उसमें कौन सा हाथ पहले स्पर्शित हुआ और कौन सा फिर? उनमें प्रथम-पश्चात् कोई नहीं है, किन्तु ज्ञान में तो वे दोनों जैसे हैं वैसे ही ज्ञात होते हैं। उसीप्रकार कर्म और आत्मा का विकार–यह दोनों अनादि से हैं, अनादि को अनादिरूप से सर्वज्ञदेव यथावत् जानते हैं। अनादि पदार्थ को आदिमानरूप से जाने तो वह ज्ञान मिथ्या सिद्ध हो।

प्रश्नः—अनादि पदार्थ का ज्ञान किसप्रकार हो सकता है? यदि अनादि पदार्थ का ज्ञान भी हो जाये, तब तो ज्ञान में उसका अन्त आ जाये?

उत्तरः—अनादि पदार्थ का आदि है ही नहीं, तो फिर ज्ञान में वह आदि कैसे ज्ञात हो? अनादि पदार्थ को ज्ञान अनादिरूप से ही जानता है। इस सम्बन्ध में एक स्थूल दृष्टान्त इस प्रकार है कि–गोल थाली के गोल आकार का प्रारम्भ और अन्त नहीं होता, तथापि उसका पूर्ण गोलाकार ज्ञात हो सकता है। वैसे ही पदार्थ में आदि-अन्त न होने पर भी उसका पूर्ण ज्ञान हो सकता है। जैसे बीज पहले किसी वटवृक्ष के रूप में था और वटवृक्ष पहले किसी बीज के रूप में था;

इस वीज–वृक्ष की परम्परा में प्रथम कौन हुआ ? वीज–वृक्ष की परम्परा अनादि से ही है। ऐसी युक्ति से भी अनादिकालीनता सिद्ध होती है।

(१९) सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का सम्बन्ध लेश्या के साथ नहीं है

कृष्ण, नील, कापोत और पीत, पद्म, शुक्ल—यह छह लेश्या हैं। लेश्या अर्थात् कषाय से अनुरंजित योगों की प्रवृत्ति। छह लेश्या में पहली तीन अशुभ हैं और दूसरी तीन शुभ हैं। अज्ञानी जीव के छहों प्रकार की लेश्या हो सकती हैं, और ज्ञानी के भी छहों प्रकार की लेश्या हो सकती हैं। लेश्या का सम्बन्ध सम्यग्दर्शनादि गुणों के साथ नहीं है किन्तु शुभाशुभ भावों के साथ है। शुभ-अशुभ भावों की तीव्रता-मन्दतानुसार लेश्या के प्रकार होते हैं।

प्रश्न:—जव शुक्ल लेश्या हो तव संज्वलन कषाय और जव कृष्ण लेश्या हो तव अनन्तानुवन्धी कषाय—ऐसा लेश्या और कषाय का सम्बन्ध क्यों नहीं होता ?

उत्तर:—कषाय के अनुसार लेश्या नहीं होती, किन्तु कषाय की तीव्रता-मन्दतानुसार लेश्या होती हैं। किसी जीव के शुक्ल लेश्या हो तथापि अनन्तानुबन्धी क्रोध विद्यमान होता है, और किसी जीव के कृष्ण लेश्या हो तथापि अनन्तानुबन्धी क्रोध नहीं होता। जिस जीव की दृष्टि ही मिथ्या है उसे वस्तु स्वरूप की खवर ही नहीं है, इससे उसे तो निरन्तर अनन्तानुवन्धी आदि चारों कषायें प्रवर्तमान हैं; भले ही उसके शुक्ल-

लेश्या हो तो भी निरन्तर चारों कषायें विद्यमान है। और जिसे यथार्थ दृष्टि के द्वारा वस्तुस्वरूप का भान है, उसके कृष्ण लेश्या के समय भी अनंतानुबन्धी कषाय का तो अभाव ही रहता है। अज्ञानी के जब अनन्तानुबन्धी आदि चारों कषायें मन्दरूप से प्रवर्तमान हों तब शुक्लादि शुभ लेश्या होती है और जब वे कषायें तीव्ररूप से प्रवर्तमान हों तब कृष्णादि लेश्या होती हैं; किन्तु मन्दकषाय या अशुभ तीव्रकषाय—वे दोनों संसार का ही कारण हैं। अत्यन्त मन्दकषाय करके शुक्ल लेश्या करे इससे उसके अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव होजाता है—ऐसा नहीं समझना चाहिये। और ज्ञानी के अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों की तीव्रता अथवा मन्दतानुसार यथायोग्य शुभ या अशुभ लेश्या होती है। किन्तु उनकी भूमिका में योग्य तीव्र कषाय हो और कृष्ण लेश्या हो जाये तो उससे उनके अनन्तानुबन्धी कषाय हो जाती है—ऐसा नहीं समझना चाहिये।

लेश्या के साथ सम्यक्त्व—मिथ्यात्व का सम्बन्ध नहीं है। किसी के शुक्ल लेश्या हो तथापि अनन्तसंसारी होता है और किसी के कृष्ण लेश्या हो तब भी एकावतारी होता है। सम्यग्दर्शन ही धर्म का मूल है और मिथ्यात्व ही संसार का मूल है। एक तो हजारों पशुओं का वध करने वाला कृष्ण लेश्यायुक्त कसाई, और दूसरा "मैं पर का कर सकता हूँ, तथा पुण्य से धर्म होता है"—ऐसी मिथ्या मान्यता वाला शुक्ल लेश्याधारी द्रव्यलिंगी जैनसाधु—यह दोनों जीव चार

कपायों की अपेक्षा से बराबर हैं, क्योंकि दोनों जीवों के चार प्रकार की कपाय प्रवर्तमान हैं। मात्र वर्तमान जितना तीव्रता और मन्दता की अपेक्षा से अन्तर है, इसलिये उनकी लेश्या में अन्तर है, और उससे संसार में एकाध भव का अन्तर पड़ेगा; किन्तु वे दोनों संसारमार्ग में ही हैं। दोनों अधर्मी हैं, दोनों में से कोई भी धर्मसन्मुख नहीं है। कषाय को मन्द करने से धर्म के सन्मुख नहीं हुआ जाता; किन्तु मेरा स्वभाव सर्व कपायों से रहित है, मैं ज्ञानस्वरूपी ही हूँ, कषाय मेरा स्वरूप नहीं है—ऐसे अपने अकषाय स्वभाव के लक्ष से यथार्थ श्रद्धा–ज्ञान का अभ्यास करने से धर्मसन्मुख हुआ जाता है; और जीव को अकषाय स्वभाव का लक्ष होने पर वह कपाय को अपने कर्तव्यरूप से स्वीकार नहीं करता इससे वहाँ पर सहज ही कपाय की मन्दता होजाती है।

(२०) कपाय मन्द कब होती है ? और उसका अभाव कब होता है ?

किसी जीव को वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र की मान्यता हुई है, अर्थात् यथार्थ निमित्तों का लक्ष हुआ है, किन्तु अभी अपने आत्मस्वभाव की पहिचान नहीं हुई और सूक्ष्म विपरीत मान्यता दूर नहीं हुई—ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव नवतत्वों की श्रद्धा, ग्यारह अंग का ज्ञान और पंचमहाव्रत का पालन करे तो उसके कपाय की मन्दता इतनी हद तक होसकती है कि वह बारहवें स्वर्ग के ऊपर भी जा सकता है। उस जीव के अकपाय निमित्तों का लक्ष हुआ है इसलिये बारहवें स्वर्ग से

ऊपर जासके—ऐसी कषाय की मन्दता वह कर सकता है; वाह्य द्रव्यलिंग कहीं कषाय की मन्दता का साधन नहीं है, किन्तु अकषाय निमित्तों का लक्ष है इससे कषाय मन्द कर सकता है।

जो जीव वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र के अतिरिक्त अन्य कषायी देव-गुरु-शास्त्र को निमित्तरूप से मानता है उस जीव के कषाय की मन्दता भी ऐसी नहीं हो सकती कि जिससे वह वारहवें स्वर्ग के ऊपर जा सके, क्योंकि उसका लक्ष्य ही कषायी निमित्तों पर है। कषायी निमित्तों (कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र) के लक्ष से चाहे जैसा ब्रह्मचर्य पाले, त्यागी हो, किन्तु उसमें उसे कषाय की विशेष मन्दता होती ही नहीं, और वह वारहवें स्वर्ग से ऊंपर नहीं जा सकता।

जिसने कषायी देव-गुरु-शास्त्र को निमित्तरूप से स्वीकार किया है, उसने अपने स्वभाव को भी कषायी स्वीकार किया है, अर्थात् उसके अभिप्राय में कषाय का आदर है; इसलिये उसके कषाय का अभाव तो नहीं होगा किन्तु कषाय की विशेष मन्दता भी नहीं होगी।

जिसने अकषायी वीतराग देव-शास्त्र-गुरु को निमित्तरूप से स्वीकार किया है उसके उन अकषाय निमित्तों के लक्ष से कषाय की मन्दता हो सकती है; परन्तु निमित्तों के लक्ष से कषाय का अभाव नहीं हो सकता।

उपरोक्त दोनों जीवों के निमित्त के लक्ष में अन्तर होने से कषाय की तीव्रता-मन्दता में अन्तर होता है; किन्तु उन दोनों में स्वभावदृष्टि का अभाव होने के कारण किसी के भी

ऐसा अकषाय भाव प्रगट नहीं होता कि जिससे भव का अभाव हो जाये। कषायरहित निमित्तों को नमस्कार करने से कषाय की मन्दता होती है और कषायरहित अपने शुद्ध स्वभाव को स्वीकार करने से कषाय का अभाव होता है। कषाय की मन्दता से संसार की गति में अन्तर होता है, किन्तु अकषाय स्वभाव की दृष्टि के बिना भव का अन्त आ जाये ऐसा नहीं होता। यथार्थ दृष्टि के द्वारा अकषाय स्वभाव की पहिचान करने के पश्चात् कदाचित् कोई जीव पूर्व में बन्धी हुई आयु के कारण नरकगति में जाये तो भी उस जीव के भव का नाश होना ही है। और मिथ्यादृष्टि जीव अकषाय स्वभाव की प्रतीति के बिना मंदकषाय करके कदाचित् स्वर्ग में जाये तो भी उसके सर्व कषायें विद्यमान ही हैं, और वह संसार की ही वृद्धि करता है।

(२) जीव की भूल और कर्म

आत्मा अपने स्वभाव से शुद्ध है; किन्तु वर्तमान परिणाम में उसकी भूल है। यदि त्रैकालिक शुद्ध स्वभाव को और वर्तमान भूल को जाने तो स्वभाव के आश्रय से भूल को दूर करे; किन्तु यदि अपनी भूल को ही न जाने और ऐसा माने कि कर्म भूल कराते हैं तो वह भूल को कैसे दूर करेगा? और अपनी भूल को जाने किन्तु त्रैकालिक शुद्ध स्वभाव को न जाने तो भी किसके आश्रय से भूल को दूर करेगा? इसलिये त्रिकाल शुद्ध स्वभाव और वर्तमान भूल—दोनों को जानना चाहिये। भूल का निमित्त कर्म है किन्तु कर्म भूल नहीं कराते।

जैसे किसी के मुँह पर दाग हैं; दर्पण में देखने से वे दाग दिखाई देते हैं; किन्तु कहीं दर्पण में वे दाग नहीं हैं; और दर्पण ने उन दागों को नहीं किया है; दाग तो मुँह पर हैं। इससे दाग दूर करने के लिये यदि कोई दर्पण को घिसने लगे तो दाग दूर नहीं होंगे, किन्तु यह जानकर कि दाग मुँह पर हैं, मुँह को साफ करे तो वे दाग दूर होजायें। उसीप्रकार आत्मा वस्तु अनन्त गुण का पिण्ड है, उसके परिणाम में अनादि से भूल है, भूल के समय कर्मों की उपस्थिति है वह निमित्त है, वह कर्मों का निमित्तपना तो यह बतलाता है कि जो भूल है वह जीव का स्वभाव नहीं, किन्तु विकार है। वह विकार कर्मों में नहीं होता, और कर्म विकार नहीं कराते। विकार तो जीव की पर्याय में होता है, उसका कारण जीव की उस समय की पर्याय है; जीव का त्रैकालिक स्वभाव भूल वाला नहीं है। ऐसा जान ले तो जीव अपने पुरुषार्थ से दोषों को दूर करे।

और जिसप्रकार कर्म जीव को दोष नहीं कराते वैसे ही देव-गुरु-शास्त्र जीव के दोषों को दूर नहीं कर देते। जैसे दर्पण तो मात्र मुँह पर के दोष का ज्ञान कराता है, किन्तु कहीं दागों को दूर नहीं कर देता। दर्पण में दाग भी वही देख सकता है जिसमें देखने की शक्ति हो; किन्तु अन्धे को अपने दाग दिखाई नहीं देते। वैसे ही देव-गुरु-शास्त्र तो दर्पण के समान हैं, उनके निमित्त से पात्र जीव अपने शुद्धस्वभाव को और भूल को जान लेते हैं, और यथार्थ उपाय

द्वारा उस भूल को दूर करते हैं। किन्तु कहीं देव-गुरु-शास्त्र उनकी भूल को दूर नहीं कर देते।

यदि सूझता मनुष्य अपना मुख देखे तो उसे दर्पण निमित्त कहा जाता है, किन्तु अन्धा मनुष्य अपना मुँह ही नहीं देख सकता उसे दर्पण निमित्त कैसे कहा जायेगा? उसीप्रकार जो जीव अपनी पात्रता के द्वारा भूल को जानकर सम्यक्ज्ञान के द्वारा उसे दूर करता है उसको सत्‌देव-गुरु-शास्त्र निमित्त कहे जाते हैं; किन्तु जो जीव अपनी भूल को ही नहीं जानता उसे देव-गुरु-शास्त्र भूल को दूर करने में निमित्त भी नहीं कहे जाते।

इसमें तो अनेक बातें सिद्ध हो जाती हैं:—आत्मा है, आत्मा का परिणमन (अवस्था) है, उस परिणमन में भूल है, भूल में कर्म निमित्त हैं, परिणमन में जो भूल है वह क्षणिक है, आत्मा का त्रिकालस्वभाव शुद्ध परिपूर्ण है उसमें भूल नहीं है, उस स्वभाव के भान से वह भूल दूर हो सकती है, उस भूल को दूर करने में सच्चे देव-गुरु-शास्त्र निमित्त हैं, भूल दूर करने से कर्म का संयोग भी स्वयं दूर हो जाता है—इसप्रकार नवतत्त्वों का सार इसमें आजाता है।

आत्मवस्तु स्वयं स्वाधीन सुखरूप है, किन्तु अपने स्वभाव को अनन्तकाल से जाना नहीं, माना नहीं और अनन्तकाल से संसार में दुःखी होरहा है। जिस भूल के फलस्वरूप अनन्तकाल से दुःखी होरहा है 'वह भूल महान होगी या अल्प? यदि वह भूल अल्प होती तो उसके फल में

अनन्त दुःख नहीं होता। जीव ने अपने अपार स्वभावसामर्थ्य का ही अनादर किया है। उस महान भूल के फल में उसे प्रतिक्षण अनन्त दुःख है। अपने स्वभाव की यथार्थ पहिचान और आदर द्वारा उस महान भूल को दूर करे तो उसका अनन्त दुःख दूर हो, और अविनाशी सुख का उपाय प्रगट हो। जीव स्ववस्तु के भान बिना परलक्ष से अनादिकाल से भूल करता आरहा है, तथापि स्ववस्तु की पहिचान के द्वारा वह भूल इसी क्षण दूर हो सकती है; इसलिये अवस्था की भूल को बतलाकर उसे दूर करने का उपाय बतलाते हैं।

(२२) कषायें और उनके प्रकार

अनादि-संसारी जीव के अनन्तानुबन्धी आदि चारों प्रकार की कषायें निरन्तर प्रवर्तमान रहती हैं। अज्ञानी के उच्च शुभ-भाव हों तब भी उसके वे चार प्रकार की कषायें होती हैं। क्योंकि तीव्रता-मन्दता की अपेक्षा से वे अनन्तानुबन्धी आदि भेद नहीं हैं, किन्तु जीव के सम्यग्दर्शनादि निर्मल भावों का घात होने की अपेक्षा से वे भेद हैं। जीव जब सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग प्रगट करता है तब उन कषायों का क्रमशः अभाव होता है।

अज्ञानी के अनन्तानुबन्धी आदि चारों प्रकार की कषायें एक ही साथ निरन्तर प्रवर्तमान रहती हैं, किन्तु उस प्रत्येक कषाय के क्रोध-मान-माया और लोभ—ऐसे चार भेद हैं, वे चारों एकसाथ नहीं होते, किन्तु इन क्रोधादिक चार में से एक समय में एक ही कषाय में जीव का उपयोग लगता है।

संज्वलन, प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान और अनन्तानुबन्धी यह चारों कषायें तो अज्ञानी के एकसाथ होती हैं, किन्तु क्रोध, मान, माया और लोभ यह चारों एकसाथ उसके व्यक्तरूप नहीं होते। जब जीव का उपयोग क्रोध के उदय में लीन होगा उस समय माया इत्यादि में उसका उपयोग काम नहीं कर सकता। इससे ऐसा नहीं समझना चाहिये कि जब जीव क्रोध में युक्त हो उस समय मान, माया, लोभ उसके दूर ही हो गये हैं।

इन क्रोधादि कषायों में भी एक-दूसरे में परस्पर कारण कार्यपना प्रवर्तन होता है—किसी समय क्रोध से मानादि हो जाते हैं, किसी समय मान से क्रोधादि होजाते हैं। इससे किसी समय इन कषायों में परस्पर भिन्नता प्रतिभासित होती है और किसी समय नहीं। इसप्रकार संसारी जीव के अनादि से कषायरूप परिणमन होता है, और उससे जीव को दुःख होता है। इसलिये हे भव्य! तुझे वे समस्त कषायें दूर करने योग्य हैं।

क्रोधादि तो जीव के क्रमशः ही होते हैं, क्रोध के समय मानादि नहीं होते, किन्तु जीव का परिणमन इतना सूक्ष्म है कि स्थूल उपयोग के द्वारा जीव भिन्न-भिन्न परिणामों को नहीं जान सकता। कषायरूप परिणमन होता है अर्थात् जीव स्वतः क्रोधादि कषायरूप परिणमित होता है; कषायें जीव की पर्याय में होती हैं। इसप्रकार पर्याय को सिद्ध किया है।

(२३) विकाररूपी रोग और उसे मिटाने का उपाय

जीव का शाश्वत स्वभाव मलिनता नहीं है; किन्तु उसके परिणमनरूप अवस्था में यदि मलिनता न हो तो वर्तमान पर्याय में ही केवलज्ञान और सिद्धदशा प्रगट होना चाहिये। किन्तु वर्तमान में मलिनता होने से ज्ञान बहुत ही अल्प है। यहाँ पर विकारी अवस्था बतलाकर जीव को यह समझाना है कि हे भाई! तेरी अवस्था में विकार होने पर भी तेरा पूर्ण आत्मा उस समय अशुद्ध नहीं हो गया है; यदि सम्पूर्ण आत्मा अशुद्ध हो गया हो तो अशुद्धता कभी आत्मा से अलग नहीं हो सकती। किन्तु अशुद्धता क्षणिक है और वह दूर हो सकती है, इसलिये तू उसे दूर करने का प्रयत्न कर!

इस मोक्षमार्ग-प्रकाशक में इस समय यह सिद्ध करना है कि जीव की अवस्था में विकाररूपी रोग है; क्योंकि यदि जीव को रोग का आभास हो तो वह उससे मुक्त होने का उपाय करेगा। और समयप्राभृत में आत्मा का शुद्ध स्वभाव बतलाया है; उसमें द्रव्यदृष्टि से कहते हैं कि विकार आत्मा में है ही नहीं, विकार का कर्ता आत्मा नहीं है, आत्मा के स्वरूप में विकार है ही नहीं। यह समझाकर जीव की पर्यायमूढ़ता छुड़ाकर द्रव्यदृष्टि कराने का प्रयोजन है; क्योंकि जो जीव अपने को विकार जितना ही माने, और विकाररहित स्वभाव की पहिचान न करे तो वह किसके लक्ष्य से विकार को दूर करेगा? इसप्रकार अपना शुद्ध स्वभाव और अवस्था का विकार—दोनों को जानकर अपने ज्ञान में शुद्ध

स्वभाव की मुख्यता और अवस्था की गौणता करने से जीव को सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान होता है; इसी को निश्चयनय का अवलम्बन कहा जाता है और इसी उपाय के द्वारा जीव का संसार-रोग नष्ट होता है।

(२४) भूल कब-दूर होती है ?

१—आत्मा को माने किन्तु उसके परिणमन को न माने तो उसकी भूल दूर नहीं होती।

२—आत्मा को माने और उसके परिणमन को भी माने, किन्तु यह न माने कि परिणमन में भूल है, तो भी भूल दूर नहीं होती।

३—आत्मा को माने, उसके परिणमन को माने और यह भी माने कि उसके परिणमन में भूल है, किन्तु भूलरहित शुद्ध स्वरूप को न माने तो भी भूल दूर नहीं होती।

(१) आत्मा को माने, (२) उसके परिणमन को माने, (३) उसके परिणमन में भी भूल है यह भी माने, और (४) उसके त्रिकाल शुद्धस्वरूप में भूल नहीं है,—ऐसा जानकर यदि त्रैकालिक शुद्धस्वरूप का अवलम्बन करे तो भूल दूर हो जाती है।

(२५) प्रत्येक वस्तु की स्वतंत्रता और भिन्नत्व

इस जगत में अनन्त आत्मा हैं, वे प्रत्येक स्वतंत्र हैं, अपने शुद्धस्वरूप के रूप से नित्य स्थिर रहकर वे अवस्थारूप से परिणमन करते हैं, अवस्था में अपने दोष से विकार होता है और उस विकार में कर्म निमित्त हैं। प्रत्येक आत्मा भिन्न

है, एक आत्मा का मोक्ष होने से सभी आत्माओं का मोक्ष नहीं होजाता, और सिद्धदशा में भी ज्योति की भाँति एक आत्मा दूसरे आत्मा में मिल नहीं जाता; परन्तु निरन्तर भिन्न ही रहते हैं और वहाँ भी प्रत्येक के सुख इत्यादि का स्वतंत्र परिणमन है। यदि सिद्धदशा में एक आत्मा दूसरे में मिल जाता हो तो सिद्धदशा में आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व का नाश हो जाये। और यदि ऐसा हो तो, जिसमें आत्मा के अस्तित्व का नाश हो जाये ऐसी सिद्धदशा की अपेक्षा तो संसारदशा ही श्रेष्ठ है कि जहाँ स्वतंत्ररूप से रहकर आत्मा सुख-दुःख को जानता तो है! सिद्धदशा के समय एक आत्मा दूसरे आत्मा में मिल जाता है—ऐसा मानना बिलकुल अज्ञान है; सिद्धदशा में कभी भी एक आत्मा दूसरे में नहीं मिल जाता, किन्तु स्वतंत्र है, वह निरन्तर स्वतंत्र ही रहता है। प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से सदा एकरूप, और अन्य सर्व पदार्थों के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से भिन्न ही रहता है; कोई आत्मा कभी भी दूसरे के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में नहीं मिल जाता। शरीरादि के प्रत्येक प्रत्येक रजकण भी अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से स्वतंत्र हैं। एक रजकण दूसरे में नहीं मिलता। रजकणों में संयोग-वियोग कहना वास्तव में तो आकाशक्षेत्र की अपेक्षा से है, वस्तु के अपने भाव में संयोग-वियोग कैसा? वस्तु तो त्रिकाल अपने स्वरूप में ही है। दो वस्तुएँ क्षेत्र में निकट आईं उसे व्यवहार से संयोग कहा जाता है और दो वस्तुएँ क्षेत्र से अलग हुईं उसे व्यवहार से वियोग कहा जाता है;

किन्तु यदि वस्तु के स्वभाव से ही देखें तो एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है, प्रत्येक वस्तु निरपेक्ष है। स्वतंत्र निरपेक्ष वस्तुस्वभाव को जाने बिना जीव की भूल कभी दूर नहीं हो सकती।

(२६) ज्ञानी और अज्ञानी के अभिप्राय में अन्तर

अज्ञानी जीव परपदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानकर राग-द्वेष करते हैं। ज्ञानियों के राग-द्वेष होता है, परन्तु वे पर-पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट नहीं मानते, किन्तु अपने पुरुषार्थ की अशक्ति को जानते हैं।

अज्ञानी परवस्तु को इष्ट मानकर हास्य करते हैं; अधिकांश लोग हास्य को गुण और सुख का कारण समझते हैं, किन्तु हास्य दोष है, विकार है, अवगुण है, और उसमें आकुलता का दुःख है। ज्ञानियों के भी हास्य हो जाता है, किन्तु उसमें वे परवस्तु को इष्टरूप नहीं मानते और उस हास्य को सुखरूप नहीं मानते। उसी प्रकार शोक में भी अज्ञानी जीव पर का दोष निकालते हैं; ज्ञानियों के शोक होता है किन्तु वे पर के कारण शोक नहीं मानते।

जब ऋषभदेव भगवान मोक्ष पधारे उससमय भरतचक्रवर्ती जैसे क्षायिक सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा भी शोक के कारण आंसू बहा कर रोये हैं। स्वयं को आत्मभान है; राग होता है उसे अपना स्वरूप नहीं मानते, और भगवान का विरह होने से वह राग हुआ है—ऐसा भी नहीं मानते; स्वयं भी उसी भव में

मोक्ष प्राप्त करनेवाले हैं, किन्तु अभी पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण राग है इससे भगवान का विरह होने पर चौधार आँसुओं से रोते हैं कि अरे रे! इस भरत में से केवलज्ञानरूपी सूर्य अस्त हो गया, भरत को भगवान का विरह हुआ! वास्तव में तो अपने को अपने केवलज्ञान का विरह दुःखद लगता है और उससे प्रशस्त रागभाव आये विना नहीं रहता। श्रद्धा और ज्ञान तो यथार्थ हैं, किन्तु अभी चारित्र की पर्याय में दोष है इससे राग होता है, उसके भी वास्तव में तो ज्ञाता ही हैं। राग के समय भी अभिप्राय में किसी परवस्तु को इष्ट-अनिष्ट नहीं मानते। "अरे रे! श्रीभगवान का विरह हो गया!" ऐसा ज्ञानी बोलते अवश्य हैं, किन्तु वास्तव में भगवान का संयोग इष्ट और वियोग अनिष्ट—ऐसा वे अपना अभिप्राय नहीं रखते, किन्तु मैं तो संयोग और वियोग का भी ज्ञाता हूँ—ऐसे अभिप्राय से ज्ञातारूप ही रहते हैं। अज्ञानी जीव अपना ज्ञातापन भूल जाते हैं और ऐसा मानते हैं कि संयोग-वियोग के कारण हमें राग होता है, इससे उनके कभी राग दूर नहीं होता।

(२६) इष्ट और अनिष्ट क्या है?

वस्तु तो वस्तु के भाव में ही है; कोई वस्तु इष्ट या अनिष्ट नहीं है। यदि वस्तु के स्वभाव में इष्टता-अनिष्टता हो, तो वह वस्तु ही राग-द्वेष का कारण सिद्ध हो, और केवली भगवान के भी अधिक रागद्वेष हों, क्योंकि वे सभी वस्तुओं को जानते हैं। कोई परद्रव्य इष्ट-अनिष्ट नहीं है। समस्त

वस्तुएँ स्वयं अपने स्वभाव में ही हैं, उनमें किसे इष्ट कहा जाये और किसे अनिष्ट कहा जाये ? जो परवस्तु को इष्ट-अनिष्ट मानता है उसका अनन्त परद्रव्यों के प्रति राग-द्वेष कभी दूर नहीं होता, वह मिथ्यादृष्टि है। देव-गुरु-शास्त्र वास्तव में इस आत्मा को इष्ट नहीं हैं और शरीर को काटनेवाला अनिष्ट नहीं है।—ऐसा भाव करे तो वीतरागी दृष्टि होजाये और किसी के भी प्रति राग-द्वेष करने का अभिप्राय दूर हो जाये—यही अनन्त समभाव है। जीव को अपना विकारभाव अनिष्ट है और विकाररहित स्वभाव इष्ट है।

हे जीव ! कोई भी परवस्तु तुझे इष्ट-अनिष्ट नहीं है; इसलिये तू अपने स्वभाव को इष्ट जान और पर्याय में जो विकाररूपी रोग है उसी को अनिष्ट जान। पर को इष्ट-अनिष्ट मानकर जो राग-द्वेष करता है वह अज्ञानी है, उसे तो राग-द्वेष दूर करने का ही अवकाश नहीं है; क्योंकि जगत में जो अनन्त वस्तुएँ हैं उनमें किसी में इष्ट और किसी में अनिष्टता माने बिना नहीं रहेगा, और जिसे इष्ट मानेगा उसके प्रति राग तथा जिसे अनिष्ट मानेगा उसके प्रति द्वेष हुए बिना रहेगा ही नहीं; इससे जो जीव परद्रव्य को इष्ट-अनिष्ट माने उसे अनन्तानुबन्धी राग-द्वेष होता है और वह अपने परम इष्ट स्वभाव को भूल जाता है। ज्ञानियों के राग-द्वेष होता अवश्य है, किन्तु किसी परद्रव्य को इष्ट-अनिष्ट मानने से नहीं होता, लेकिन अपने पुरुषार्थ के दोष से होता है, और उस दोष को चारित्र की अपेक्षा से अनिष्ट जानते हैं;

अपना शुद्ध स्वभाव ही परम इष्ट है उसमें स्थिरता करके उस दोष को दूर करते हैं।

वस्तु अपने स्वभाव से ही द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप है, द्रव्य-गुण-पर्याय त्रिकाल स्वतंत्र हैं, जिस-जिस समय में जो पर्याय हो, वह उस समय का वस्तु का ही स्वतंत्र परिणमन है। इससे जो जीव परवस्तु की पर्याय को इष्ट-अनिष्ट मानता है वह जीव परवस्तु के स्वभाव को ही इष्ट-अनिष्ट मानता है; क्योंकि परिणमन वस्तु का स्वभाव है; पर-वस्तु के स्वभाव को इष्ट-अनिष्ट मानना वह मिथ्यात्व है। वास्तविक दृष्टि की अपेक्षा से तो अपनी पर्याय भी इष्ट-अनिष्ट नहीं है, क्योंकि दृष्टि में पर्यायभेद की स्वीकृति नहीं है।

पर में इष्टता–अनिष्टता मानकर जो राग-द्वेष करता है उसके मात्र चारित्र का ही दोष नहीं है, परन्तु श्रद्धा का भी दोष है। श्रद्धा का दोष ही अनन्त-संसार का मूल कारण है, उसके दूर होने पर जो राग-द्वेष हो वह दीर्घसंसार का कारण नहीं है। ज्ञानी के जब राग-द्वेष होता है उस समय भी श्रद्धा और ज्ञान तो निर्मल ही परिणमित रहते हैं; अर्थात् राग-द्वेष के समय भी श्रद्धा और ज्ञान की अपेक्षा से तो स्वभाव की ओर का ही परिणमन है और उससे उनके निर्जरा है। चारित्र का जो अल्प दोष है उसका भी श्रद्धा में स्वीकार नहीं है, ज्ञान उसे जानता है।

मैं परवस्तु का संयोग-वियोग कर सकता हूँ—ऐसा अज्ञानी मानता है, इससे स्वतः जिसे इष्ट मानता है उसका संयोग

करना चाहता है और जिसे अनिष्ट मानता है उसका वियोग करना चाहता है; किन्तु परवस्तु का परिणमन तो उस वस्तु के ही आधीन है इससे उसके परिणमनानुसार संयोग-वियोग होते रहते हैं; इस जीव की इच्छानुसार ही उसका परिणमन नहीं होता। अज्ञानी जीव उसमें व्यर्थ ही राग-द्वेष और कर्तृत्वबुद्धि करके दुःखी होते हैं।

ज्ञानी ऐसा जानते हैं कि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है, किसी भी पदार्थ में परिवर्तन करने के लिये मैं समर्थ नहीं हूँ। ऐसा जानने से वे किसी परवस्तु को इष्ट-अनिष्ट नहीं मानते और उसका संयोग-वियोग मैं कर सकता हूँ—ऐसा नहीं मानते। परवस्तुओं का परिणमन चाहे जैसा हो वह राग-द्वेष का कारण नहीं है,—ऐसे निःशंक अभिप्राय के वल से ज्ञानी का अधिकांश राग-द्वेष तो दूर हो गया है और जो अल्प शेष रहा है उसे भी पुरुषार्थ की जागृति द्वारा प्रतिक्षण दूर करते रहते हैं।

(२७) मोक्षमार्गी और संसारमार्गी

अज्ञानी को असंयोगी आत्मस्वभाव की पहिचान न होने से उसका लक्ष संयोग के ही ऊपर है और संयोग को जानने से उसमें परिवर्तन करने के अभिप्राय से वह दुःखी होता है। ज्ञानी की दृष्टि अपने असंयोगी स्वभाव पर है, वे स्वभाव की निःशंकतापूर्वक संयोगों को जानते हैं, किन्तु उनसे लाभ-हानि होने की शंका नहीं करते, इससे उन्हें स्वभाव के लक्ष से अंतरंग में समभाव प्रवर्तमान है; ज्ञानी अपनी गुणों की दृष्टि के द्वारा अवगुणों को नष्ट करते हैं। इसप्रकार ज्ञानी

का स्वामित्व स्वभाव में है और पर के ऊपर से तथा विकार के ऊपर से स्वामित्व हट गया है; और अज्ञानी का स्वामित्व पर के ऊपर तथा विकार के ऊपर है, स्वभाव को वह भूल गया है। पहला जीव मोक्षमार्ग में है, दूसरा संसार-मार्ग में है। इसप्रकार दृष्टि का अन्तर ही संसार–मोक्ष है, बाह्य क्रियाओं से या संयोग से उनका माप नहीं होता।

(२८) प्रभुता

अवस्था में भूल होने पर भी अपनी स्वरूपशक्ति से तो सभी आत्मा प्रभु हैं–पूर्ण हैं। अपनी स्वरूपशक्ति की पहि. चान करके भूल को दूर करेगा तो वह प्रगट वीतराग हो-जायेगा। प्रत्येक आत्मा केवलज्ञान आनन्द का पिंड है; केवल-ज्ञान कहाँ से प्रगट होता है? आत्मा में से ही प्रगट होता है। यदि आत्मा में केवलज्ञान हो तभी तो वह प्रगट होगा न? इसलिये प्रत्येक आत्मा में केवलज्ञानशक्ति है। प्रत्येक *आत्मा में शक्तिरूप से त्रिकाल पूर्ण प्रभुता है; अपनी शक्ति* के विश्वास और एकाग्रता द्वारा वह पर्याय में व्यक्त हो सकती है। अपनी प्रभुता को भूला है वही पामरता है, और अपनी प्रभुता का भान किया, वही प्रभुता प्रगट होने का उपाय है।

(२९) ज्ञानस्वभाव ही इष्ट है; पुण्य से आत्मा को बन्धन होता है

एक चारित्रमोह नामक प्रकृति है, वह तो जड़ है; किन्तु अज्ञानी जीव स्वभाव को भूलकर उस प्रकृति के उदय में लीन

होने से परवस्तु को इष्ट-अनिष्ट मानकर राग-द्वेष करते हैं। आत्मा स्वतंत्र पदार्थ है, पर से भिन्न है, आत्मा का सुख आत्मा में ही है, आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसके ज्ञान में सर्व पदार्थ ज्ञात होने योग्य हैं, किन्तु ज्ञान को कोई पदार्थ इष्ट अथवा अनिष्ट नहीं है ऐसा ज्ञानस्वभाव ही इष्ट है; उसे भूलकर यदि कषाय को मन्द करे तो पुण्यबन्ध करेगा, अर्थात् पुण्यबन्धन से आत्मा बन्धेगा किन्तु उसके आत्मा का धर्म प्रगट नहीं होगा।

(३०) स्वतंत्र पुरुषार्थ

जिस जीव ने पर वस्तुओं को विकार का कारण माना है, उसने विकार के नाशक अपने स्वतंत्र पुरुषार्थ को नहीं माना है। क्योंकि परवस्तु को विकार का कारण माना है, अर्थात् परवस्तु दूर हो तो विकार का नाश हो ऐसा माना है; और परवस्तु स्वतंत्र होने से उसे दूर करना आत्मा के हाथ की बात नहीं है; विकार का पुरुषार्थ स्वयं स्वतंत्ररूप से करता है तथापि उसे स्वीकार नहीं करता। यदि अपने स्वाधीन पुरुषार्थ को स्वीकार करे तो पर की ओर के लक्ष्य को छोड़कर स्वभाव का लक्ष्य करने का प्रयत्न करे।

(३१) इच्छा और अभिप्राय

मैं पर-पदार्थों में परिवर्तन कर सकता हूँ—ऐसा मानकर अज्ञानी जीव उन्हें परिवर्तित करने का भाव करता है, वही उसकी दृष्टि की विपरीतता है। दृष्टि की विपरीतता का अर्थ

है मूल मान्यता में ही भूल; वह संसार का कारण है। ज्ञानी को पर से भिन्न स्व-स्वभाव का भान है और स्वभावदृष्टि में इच्छा का भी अभाव है, इससे स्वभावदृष्टि में संसार का अभाव है, वह स्वभावदृष्टि ही मोक्ष कारण है। स्वभाव दृष्टि का अर्थ है वस्तुस्वभाव को यथावत् मानना।

ज्ञानी को स्वभाव का भान होने पश्चात् भी निचलीदशा में इच्छा होजाती है; किन्तु उन्हें उस इच्छा की अथवा पर-वस्तु की भावना नहीं है। उसी प्रकार उस इच्छा में, अथवा इच्छानुसार पर द्रव्य का परिणमन हो उसमें, वे अपना सुख नहीं मानते; इच्छारहित अपने ज्ञानभाव को ही सुखरूप जानते हैं, मानते हैं, और अनुभव करते हैं। अज्ञानी जीव को स्व-पर के भिन्नत्व का भान नहीं है, इससे इच्छानुसार पर द्रव्यों को परिणमित करना चाहता है, और किसी समय यदि पर द्रव्य का परिणमन अपनी इच्छानुसार हो जाये तो उसमें वह अपना सुख मानता है। अर्थात् उसे निरन्तर पर पदार्थों की ही भावना और इच्छा रहती है, किन्तु इच्छा से और पर के संयोग से रहित ज्ञानस्वभाव की भावना नहीं है—यही उसकी दृष्टि की महा विपरीतता है।

सम्यक्दर्शन प्रगट करने के पश्चात् ज्ञानी के कदाचित् लाखों वर्ष तक इच्छा बनी रहे तब भी उनके किंचित् भी दृष्टि का (श्रद्धा का—सम्यग्दर्शन का-अभिप्राय का) दोष नहीं है, दृष्टि में इच्छा का अभाव है। और अज्ञानी जीव कदाचित् अंतर्मुहूर्त के पश्चात् ही समझ जानेवाला हो तो भी जबतक

परवस्तु की इच्छा करता है, तब तक तो दृष्टि का ही दोष है। दृष्टि के दोष को दूर न करके इच्छा को अधिक मन्द करे तो भी उसके ससार की ही वृद्धि है।

जब दान के शुभभाव होते हैं तब अज्ञानी की दृष्टि पर-वस्तु के लेन-देन पर है, वह उसकी दृष्टि की भूल है। ज्ञानी के दान का शुभभाव हो किन्तु वे परवस्तु को स्थानान्तर करना नहीं मानते, लेकिन अपने स्वभाव की एकाग्रता द्वारा राग को हटाने की भावना होती है। शुभभाव के समय अज्ञानी को बाह्य क्रिया आग्रह है, और ज्ञानी को शुभभाव के समय बाह्य क्रिया हो या न हो, उसका आग्रह नहीं है।

(३२) अंतराय

लाभान्तराय कर्म के उदय में युक्त अज्ञानी जीव परवस्तु को प्राप्त करने की इच्छा करता है। जहाँ परवस्तु को प्राप्त करने की इच्छा हुई वहीं वह लाभान्तराय कर्म के उदय में युक्त हो गया है, इससे स्वभाव की ओर का उसका पुरुपार्थ रुक गया है। अज्ञानी की दृष्टि पराधीन होने से पर के ऊपर ही उसका लक्ष्य जाता है, इससे स्वभाव की ओर के पुरुषार्थ में उसे सदैव अन्तराय ही है। ज्ञानी की दृष्टि स्वाधीन है इससे वह स्वभाव के लक्ष्य से पुरुषार्थ का प्रारम्भ करके अल्पकाल में ही-मुक्तदशा प्रगट करता है।

प्रश्न—लाभान्तराय कर्म के उदय के कारण इच्छानुसार नहीं मिलता, परन्तु यदि लाभान्तराय कर्म के उदय में युक्त न हो तो जैसी इच्छा करे वैसा ही हो न ?

उत्तर:—जहाँ कुछ परपदार्थ प्राप्त करने की इच्छा हुई वहीं पर लाभान्तराय कर्म के उदय में युक्त हो गया है, यदि अन्तराय कर्म के उदय में युक्त न हो, तो उसके इच्छा ही नहीं हो सकती; क्योंकि जब अन्तराय कर्म के उदय में युक्त नहीं हुआ उस समय वह अपने स्वभाव में युक्त हुआ और स्वभाव में लीन हुआ अर्थात् परपदार्थ की इच्छा ही नहीं रही। वहाँ परवस्तु का संयोग-वियोग चाहे जैसा हो उसके साथ अन्तराय का सम्बन्ध नहीं है। प्रश्न तो विपरीत तर्क से था किन्तु उसका उत्तर इसप्रकार स्वभाव से समझना है। परलक्ष्य में युक्त होकर विकार किया वहाँ कर्म का उदय कहलाया और स्वलक्ष्य में स्थिर होकर विकार को दूर किया वहाँ कर्म की निर्जरा कहलायी।

(३२) ज्ञानी की निर्मलता का माप

ज्यों-ज्यों गुणस्थान बढ़ता जाता है वैसे ही स्व की ओर के ज्ञान की शक्ति बढ़ती जाती है। कोई जीव चौथे गुणस्थान में हो और अवधिज्ञानी हो, तथा कोई जीव छट्ठे गुणस्थानमें हो तथापि मति-श्रुतज्ञान ही हो; उन दोनों में पर को जानने की अपेक्षा से अवधिज्ञानी के अधिक विकास है, किन्तु आत्मा को ग्रहण करने की शक्ति तो चौथे की अपेक्षा छट्ठे गुणस्थान-वर्ती के विशेष है। चौथे की अपेक्षा छट्ठे गुणस्थान का मति-श्रुतज्ञान विशेष निर्मल है, और वह ज्ञान ही केवलज्ञान का कारण है। अधिक परपदार्थों को जानता है इसलिये वह ज्ञान विशेष निर्मल है—ऐसा नहीं है, किन्तु आत्मा को

विशेप स्पष्टरूप से ग्रहण करे वह ज्ञान विशेष निर्मल है। अवधि-मनःपर्यय ज्ञान परसन्मुख हैं; अधिक परपदार्थों को जानते-जानते केवलज्ञान नहीं हो जाता किन्तु मति-श्रुतज्ञान का स्वोन्मुख होना ही केवलज्ञान का उपाय है।

(३४) परिपूर्ण, निर्विकार, असंयोगी स्वभाव

मैं आत्मा एक परिपूर्ण वस्तु हूं, मेरा स्वभाव निर्विकार असंयोगी, सिद्धसमान है। जब जीव अपने परिपूर्ण, निर्विकार, असंयोगी चैतन्यस्वभाव को भूला तब आठ जड़-कर्मों के निमित्त से होने वाली अपूर्ण अवस्था, विकार और परसंयोग की ओर उसकी दृष्टि गई और वहीं अपनापन मान लिया। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय कर्म के कारण ज्ञान, दर्शन और वीर्य में अपूर्णता, मोहनीय के कारण श्रद्धा और चारित्र में विपरीतता तथा चार घातिया कर्मों के कारण पर-सामग्री का संयोग—इस प्रकार अपूर्णता, विकार और सामग्री पर दृष्टि होना ही मिथ्या-दृष्टि है; और चैतन्यस्वभाव स्वतः से परिपूर्ण, निर्विकार, तथा परसंयोगरहित है, उसकी श्रद्धा–ज्ञान–चारित्र ही सुख का उपाय है।

जीव अपने शुद्ध स्वभाव को भूला कि उसी में आठ प्रकार के भावकर्म आजाते हैं और वही भावकर्म आत्मा को दुःख के कारण हैं। जड़ कर्म तो निमित्त हैं। अपने स्वभाव की महिमा को भूलकर जड़कर्म के निमित्त से होने वाली अपूर्ण अवस्था, विकार और पर सामग्री का मूल्य ज्ञान में प्रतिभासित हुआ वही दुःख है। और स्वयमेव परिपूर्ण

निर्विकारी और सामग्री के संग से रहित—ऐसा आत्मस्वभाव है उसका ज्ञान में मूल्य होने पर अपूर्णता, विकार और सामग्री की महिमा दूर हो गई—वही मुक्ति का उपाय है। ज्ञान में अपने आत्मस्वभाव का मूल्य आये बिना चाहे जितने उपाय करे, किन्तु वे सभी मिथ्या हैं। आत्मा का स्वभाव चैतन्यमय, अचिंत्य शक्तिरूप और स्वतः से ही कृतकृत्य है—उसे जाने तो उसकी महिमा आये। जिसने अपने स्वभाव को ही पूर्ण कृतकृत्य जाना है—ऐसे ज्ञानी को अन्य भावों से क्या प्रयोजन है ? जिसने अपने स्वभाव को ही कृतकृत्य जान लिया है उसे कभी किन्हीं अन्य भावों की महिमा होती ही नहीं।

(३५) रोग को जानकर उसे दूर करने का उपाय कर !

हे भव्य ! अनादि से आठ कर्मों के निमित्त से अपूर्ण पर्याय, विकार और पर संयोगों में आत्मबुद्धि धारण करके तू दुःखी हो रहा है। अपने अन्तरंग में तू विचारपूर्वक देख कि ऐसा ही है या नहीं ? विचार करने पर तुझे ऐसा ही प्रतिभास होगा। और यदि ऐसा ही है तो तू निश्चय से ऐसा मान कि मुझे अनादि-संसाररोग है और उसे नाश करने का उपाय करना मुझे आवश्यक है। ऐसा सोचकर अपने शुद्धस्वभाव की श्रद्धा–ज्ञान द्वारा अनादि की भूल को दूर करने का प्रयत्न कर। ऐसा करने से अवश्य तेरा कल्याण होगा।

★

तीसरा अध्याय

(३६) मंगलाचरण

जे निजभाव सदा सुखद, निजनो करो प्रकाश;
जे बहुविधि भव दुःखतणी, करे छे सत्ता नाश।

हे आत्मा ! तेरा सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप निर्मलभाव सदा सुखरूप है, अपने उस स्वभावभाव को तू प्रगट कर। तेरा वह भाव अनेक प्रकार के भवदुःखों की सत्ता का नाशक है। यहाँ सम्यग्दर्शनादि निजभाव प्रगट करने की प्रेरणा करके ग्रन्थकर्ता ने मंगलाचरण किया है।

(३७) दुःखों से मुक्त होने का उपाय कौन करेगा ?

संसार–दुःखों से छूटने का उपाय बतलाने से प्रथम ग्रन्थकार संसार के दुःखों के स्वरूप का वर्णन करते हैं। क्योंकि यदि संसार के दुःखों का भास हो और मोक्ष सुख का भास हो तो संसार के दुःखों से छूटने का प्रयत्न करे। किन्तु संसार की तीव्र रुचि वाले जीवों को संसार के दुःखों का आभास ही नहीं होता; वे तो संसार में भी अपने को सुखीमान रहे हैं। ऐसे जीवों को संसार से छूटने का उपाय सुनना पसन्द नहीं आयेगा। जब तक जीव को अपनी वर्तमान अवस्था में दुःख का भास न हो तब तक वह दुःखों से छूटने का प्रयत्न ही क्यों करेगा ? प्रत्येक जीव दुःख से छूटने का

कोई न कोई उपाय प्रतिक्षण कर रहा है। यदि संसार में भी सुख हो तो जीव संसार से मुक्त होने का उपाय किसलिये करे?

(३८) जीव के दुःख दूर करने के उपायों में भूल और सच्चा उपाय

संसारदशा में जीव को दुःख है, इसलिये वह प्रतिक्षण दुःख से छूटने का कोई न कोई उपाय करता है। अनादि से स्व-पर को भिन्न नहीं जानता और पर वस्तुओं में से सुख प्राप्त करना चाहता है, किन्तु परवस्तु में आत्मा का सुख नहीं है, इससे मिथ्या उपायों के द्वारा जीव दुःखी बना ही रहता है। सुख तो अपने स्वभाव में है, उसे जाने तो सुख प्रगट हो और दुःख दूर होजायें।

स्वादिष्ट मिठाई के खाने में सुख माना हो, परन्तु मिठाई खाते-खाते अन्त में स्वयं जीव को उससे अरुचि होजायेगी और खाने से इन्कार कर देगा। यदि मिठाई के खाने में सुख हो तो उस सुख से कोई किसलिये दूर हो? इसलिये मिठाई खाने की ओर की जो वृत्ति है वह दुःखदायक ही है, तथापि उसमें सुख मानना सो अज्ञान है। मिठाई खाने की भांति किसी ने निद्रा में सुख माना हो, किन्तु आठ या दस घण्टे सोयेगा, फिर सोना भी उसे अच्छा नहीं लगेगा। यदि सोते रहने में सुख हो तो उससे अरुचि क्यों हो? किसी को अपनी प्रसंसा सुनने में हर्ष होता हो, किन्तु किसी समय अपनी बड़ाई सुनते-सुनते वह भी ऊब जायेगा। क्योंकि वह सभी पर-

विपय हैं, उनमें कहीं भी सुख है ही नहीं। यदि संसार के किसी भी पर-विषय में सुख होता तो जीव अपने ज्ञान का उपयोग वहां से किसलिये वदलता ? जहाँ सुख होता है वहाँ से कोई अलग नहीं होना चाहता। ससार के किसी भी पर-विपय में सुख नहीं है, इससे उपयोग को वहाँ से वदलते हैं और एक ज्ञेय से दूसरे ज्ञेय पर वार-वार उपयोग को घुमाते रहते हैं। संसार के किसी भी कार्य में (पर-विपय में) जीव का उपयोग अधिक समय तक स्थिर नहीं रह सकेगा।

यथार्थ सुख आत्मा में है, उसमें अंशमात्र दुःख नहीं है। आत्मा में ज्ञान का उपयोग स्थिर—एकाग्र होने पर सुख का वेदन होता है, इससे जीव अपने उपयोग को वहाँ से अन्यत्र नहीं ले जाना चाहता। जव उपयोग को आत्मा में स्थिर किया तव समस्त पर-विपयों का लक्ष्य छूट जाने से भी सुख का अनुभव होता है, क्योंकि आत्मा का स्वभाव ही स्वयं सुखरूप है, और वह सुख सर्व पदार्थों से निरपेक्ष है।

अनादिकाल से जीव स्व-विपय को नहीं जानता इसलिये पर-विपयों में ही उपयोग को लगाता रहता है और दुःखी होता है। किसी पर-वस्तु के ऊपर लक्ष्य जाये, वहाँ से ऊव जाता है और उपयोग को वहाँ से हटाकर दूसरी पर-वस्तु में लगाता है और इन पर-विपयों द्वारा दुःख दूर करना चाहता है। किन्तु उपयोग को कहाँ स्थिर करने से आकुलता दूर होकर सुख प्रगट होगा, उसका भान न होने से वह सुख का सच्चा उपाय नहीं करता।

परवस्तु में ज्ञान के उपयोग को लगाता है वहाँ भंग पड़ता है; मन के विचारों से भी अल्प समय में ही ऊब कर उपयोग को अन्यत्र लगाता है; इससे सिद्ध होता है कि मन के अवलम्बन से भी जीव मुक्त होना चाहता है; मन के अवलम्बन से होने वाले भावों में भी सुख नहीं है। किन्तु जीव को मन के अवलम्बन से रहित स्व-वस्तु का भान नहीं है इसलिये फिर से परवस्तु में ही उपयोग को लगा देता है। ऐसा कौन सा पदार्थ है कि जहाँ उपयोग को स्थिर करके एकाग्र होने से आकुलता न रहे, और उपयोग वहाँ से न हटे; और कदाचित् अस्थिरता जितना हट जाये तब भी फिर से वहाँ एकाग्रता करके ज्ञान और सुख की पूर्णता कर सके ?— ऐसे निजपदार्थ के स्वरूप की अज्ञानी को खबर नहीं है, इससे संसार की ओर के उपयोग को बार-बार बदलता रहता है और अनेकप्रकार से आकुलताजन्य दुःख ही भोगता रहता है।

कहा जाता है कि—एडीसन नामक व्यक्ति फोनग्राफ के आविष्कार के विचार में सुख मानकर तीन दिन तक तत्सम्बन्धी विचार में एकाग्र रहा था; किन्तु चौथे दिन वह विचार की एकाग्रता से विचलित हो गया; क्योंकि परलक्ष्य से एकाग्र हुआ था। यहाँ स्थूलरूप से दृष्टान्त है। वास्तव में छद्मस्थ जीव का उपयोग किसी एक विषय में अन्तर्मुहूर्त से अधिक समय स्थिर नहीं रह सकता।) परलक्ष्य से एकाग्र हुआ वह कहाँ तक एकाग्र रहेगा ? जो विचार पर लक्ष्य से आता है वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा दुःखों से मुक्त

होना चाहता है किन्तु संसार की ओर के उपयोग से हटकर स्व में एकाग्रता करने की खबर नहीं है। पर को जानने की इच्छा भी दुःख है। यदि स्व-स्वभाव को जानकर वहाँ उपयोग को एकाग्र करे तो अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान हो जाये और ज्ञान पूर्ण होने से जानने की आकुलता दूर हो एवं सुख हो।

यहाँ मुख्यरूप से यह सिद्धान्त समझाया है कि आत्मा अपने उपयोग के अतिरिक्त पर में तो कुछ भी नहीं कर सकता। या तो स्वभाव की ओर का शुद्ध उपयोग करता है अथवा स्वभाव को भूलकर पर की ओर का अशुद्ध उपयोग करता है। उपयोग के अतिरिक्त आत्मा अन्य कुछ भी कभी नहीं कर सकता। अज्ञानी पर पदार्थ की ओर उपयोग को बदलता है वहाँ उसकी मान्यता में भी विपरीतता है। 'यह पर पदार्थ अनिष्ट है'—इसप्रकार सामने वाली वस्तु को बुरा मानकर अज्ञानी जीव उस ओर से उपयोग को बदल लेता है, और 'यह पदार्थ इष्ट है'—इसप्रकार सामने वाली वस्तु को इष्ट मानकर उस ओर उपयोग को लगाता है। इसप्रकार अज्ञानी जीव पर द्रव्य को जानने से उसी को इष्ट-अनिष्ट मानकर अपने उपयोग के साथ राग-द्वेष भी एकमेक करता है। भगवान इष्ट और स्त्री अनिष्ट—ऐसी मान्यता भी मिथ्यात्व है। ज्ञानी जीव कभी भी किसी पर द्रव्य को इष्ट मानकर राग नहीं करते और अनिष्ट मानकर द्वेष नहीं करते। अपने पुरुषार्थ की अशक्ति से जो राग-द्वेष हो जाता है, उसे भी

अपना स्वरूप नहीं मानते अर्थात् वे सदा उपयोग का रागादि से भिन्नरूप अनुभव करते हैं। ऐसा भेदज्ञान ही सुख का मूल है।

आत्मा के स्वरूप में रागादि नहीं है, परवस्तुएँ राग का कारण नहीं हैं और जो राग होता है वह चैतन्य-उपयोग से भिन्न है—ऐसी वीतरागी चैतन्यदृष्टि में रागादि कब तक रह सकते हैं? वे प्रतिक्षण नष्ट होते रहते हैं। अज्ञानी जीवों को अपने स्वभाव का ज्ञान न होने से परवस्तु को भला-बुरा मानते हैं, उसे रागद्वेष का कारण मानते हैं और रागादि को वे अपना कर्तव्य मानते हैं, उनको ऐसी विपरीत दृष्टि में निरन्तर राग-द्वेष की ही उत्पत्ति है। इसप्रकार ज्ञानी और अज्ञानी के राग-द्वेष में भी महान् अन्तर है।

यदि जीव पर की ओर के अशुद्ध उपयोग को छोड़कर अपने स्वभाव की ओर का शुद्ध उपयोग करे तो उसके दुःख दूर होकर सुख प्रगट हो अर्थात् अनादिकाल से स्वभाव को भूलकर जो मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का सेवन कर रहा है उसे छोड़कर अपने स्वभाव की यथार्थ श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र प्रगट करे तो उसके अनादि-संसारदुःख का अन्त हो जाये और अविनाशी मोक्ष-सुख प्रगट हो। इसलिये आत्मार्थियों को सर्व उद्यमपूर्वक उसी का प्रयत्न करना आवश्यक है।

(३९) मिथ्यात्व

अपने आत्मस्वरूप सम्बन्धी भूल का मूल कारण मिथ्यात्व

ही है। अपूर्ण ज्ञान के कारण वह भूल नहीं है, किन्तु मिथ्या मान्यता के कारण से ही भूल है, और उस भूल के निमित्त से अन्य गुण विकारी हो रहे हैं। समस्त वन्धों में मूल कारण मिथ्यात्व ही है और बन्धों में सर्व प्रथम मिथ्यात्व ही दूर होता है; मिथ्यात्व दूर होने के पश्चात् दूसरे बन्धों का अल्प-काल में ही नाश हुए बिना नहीं रहता। जहाँ तक मिथ्यात्व होता है वहाँ तक अन्य कोई बन्धन दूर नहीं हो सकते। इसलिये सर्व प्रथम आत्मस्वरूप की पहिचान के द्वारा मिथ्यात्व को टालना चाहिये। वाह्य त्याग से अथवा शुभभाव करने से मिथ्यात्व दूर नहीं हो जाता किन्तु वह यथार्थ श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) से ही दूर होता है।

(४०) ज्ञानी और अज्ञानी की भावना

अपने परिपूर्ण स्वभाव की पहिचान होने से मिथ्यादृष्टि की इच्छा पर में वढ़ती है, इसलिये कहीं भी उसकी इच्छा मर्यादा को प्राप्त नहीं होती। पूर्ण स्वभाव की भावना को भूला इसलिये पर में ही पूरी भावना करता है—पर विषयों की उसके मर्यादा नहीं है। ज्ञानी को अपने परिपूर्ण स्वभाव का भान हुआ है, और उस स्वभाव में ही संतोष है इससे पर विषयों को ग्रहण करने की भावना शांत होगई है। ज्ञानी धर्मात्मा को चक्रवर्ती राज्य और हजारों स्त्रियों का संयोग हो, और राग हो तथापि किसी परविषय को ग्रहण करने की भावना नहीं है और उन विषयों में सुख की कल्पना नहीं करते। ज्ञानी के अपने ज्ञानस्वभाव को पूर्ण करके राग को दूर करने

की भावना होती है। जहाँ स्वभाव को ही पूर्ण जानकर उसी की रुचि की है वहाँ ज्ञानी के अन्य पदार्थों की भावना कैसे हो सकती है? अज्ञानी को अपने त्रिकाल और त्रिलोक के ज्ञाता पूर्णस्वभाव की प्रतीति नहीं है, अर्थात् उसे परविषयों में रुचि है; इसलिये उसे त्रिकाल के पर पदार्थों को ग्रहण करने की इच्छा हो रही है। ज्ञानी के पर वस्तु को ग्रहण करने की इच्छा नहीं होती किन्तु ज्ञानमूर्ति पवित्र शुद्ध आत्मस्वरूप के भान में अपनी पूर्ण निर्मल आत्मपर्याय को प्रगट करने की भावना है। पुण्य की भावना भी उनके नहीं है। ज्ञानी अपने शुद्ध स्वभाव के भान और भावना को स्थिर रखकर, पुरुषार्थ की अशक्ति से निचलीदशा में राग-द्वेष में युक्त होते हैं किन्तु राग-द्वेष को स्थिर रखूं या विषयों को ग्रहण करूं—ऐसी भावना उनके नहीं रहती। राग-द्वेष हो उस समय भी उसे दूर करने की सामर्थ्य द्रव्य में विद्यमान है—इस प्रकार द्रव्य की प्रतीति है और उसकी भावना है। इससे उनकी भावना राग-द्वेष में नहीं बढ़ती किन्तु राग-द्वेष रहित शुद्धस्वभाव में ही भावना की वृद्धि होती है और उस स्वभाव की भावना के बल से राग-द्वेष का नाश हो जाता है।

अज्ञानी के जब राग-द्वेष हो उसी समय उसे दूर करने वाली सामर्थ्य की प्रतीति नहीं है इससे वह एकाकाररूप से राग-द्वेष की ही भावना करता है और सर्व पर द्रव्यों को ग्रहण करने की इच्छा रखता है; ज्ञानी और अज्ञानी की भावना में यह मूल अन्तर है। ज्ञानी स्व-पदार्थ की भावना और एकाग्रता के बल से पूर्ण हो जाते हैं और अज्ञानी पर-

पदार्थ की भावना के बल से स्व-पदार्थ का अनादर करके मूढ़—जड़ के समान हो जाते हैं। जिसे जिसकी भावना—रुचि होती है उसी ओर उसका परिणमन होता है। ज्ञानी को स्वभाव की रुचि होने से स्वभावदशारूप परिणमन होता है और अज्ञानी को विकार की रुचि होने से उसका परिणमन विकारदशारूप ही होता है।

आत्मा चैतन्यस्वरूप अरूपी वस्तु है, वह पर पदार्थों से भिन्न है। किसी भी पर-पदार्थ का वह ग्रहण अथवा त्याग नहीं करता। मैं पर का ग्रहण कर सकता हूँ और त्याग कर सकता हूँ—ऐसा अज्ञानी मानता है, किन्तु वह विपरीत मान्यता है। पर का ग्रहण-त्याग कर सकता हूँ—ऐसी मान्यता जब तक रहती है तब तक उसका पर पदार्थों के प्रति राग-द्वेष दूर नहीं होता और पर का ग्रहण-त्याग करने की इच्छा नहीं रुकती। यह तो बाह्य पदार्थों की स्थूल बात है। वास्तव में आत्मा की पर्याय में जो शुभभाव हों उन्हें भी जो रखने योग्य मानता है उसे त्रिकाल के विषयों को ग्रहण करने की भावना है। पुण्य का फल जड़ का संयोग है; इसलिये जिसे पुण्य की इच्छा है उसे जड़ की इच्छा है और जिसे एक जड़ पदार्थ की इच्छा है उसके ऐसे समस्त पदार्थों की इच्छा अव्यक्तरूप से विद्यमान ही है। ऐसा जीव भले ही पंचमहाव्रत का पालन करता हो, चाहे जितना त्यागी हो और चाहे जैसी मर्यादा बांध रखी हो, किन्तु उसकी विपरीत मान्यता में त्रिकाल के विषयों का सेवन है।

अहो ! अपना स्वभाव पूर्ण है, सर्व प्रकार से परिपूर्ण है, उसका माहात्म्य जीव को नहीं आया ! स्वयं पात्र होकर ज्ञानियों के पास से अपने स्वभाव को यथार्थरूप से जाने तो उसे अपनी महिमा आने से पर की महिमा सहज ही छूट जाये। जीव ने अपने स्वभाव की महिमा को नहीं जाना इस-लिये पर की भावना की। जिसे जिसकी भावना हो वह उसी में पूर्ण की भावना करता है। पैसे की रुचिवाला पैसे की भावना की सीमा नहीं बांधता, किन्तु जितना मिले उतना ही प्राप्त करने की भावना करता है। वैसे ही जिसने अपने पूर्ण स्वभाव को जाना है वह उसी की महिमा लाकर पूर्णता प्रगट करने की भावना करके पूर्ण सिद्ध होता है। और उस स्व-स्वभाव को जिसने नहीं जाना है वह पर की भावना द्वारा पर पदार्थों को प्राप्त करना चाहता है; किन्तु पर पदार्थों को प्राप्त करना, वह अपने हाथ की बात नहीं है। किन्हीं भी पर पदार्थों को जीव ले ही नहीं सकता; इससे पर का ग्रहण करने की विपरीत भावना द्वारा जीव अपनी शक्ति को हार देता है, उसके फलस्वरूप निगोददशा होती है।

अज्ञानी का विषय ही राग है; राग को रखने योग्य माना अर्थात् राग के विषयभूत परपदार्थों को भी रखना चाहता है। इसप्रकार अज्ञानी जीव परद्रव्यों और विकार के साथ सम्बन्ध स्थापित रखना चाहता है, किन्तु असंयोगी ज्ञान-स्वभाव के लक्ष्य से उस सम्बन्ध को तोड़ता नहीं है। ज्ञानियों ने स्वभाव के साथ एकता प्रगट करके विकार और पर वस्तुओं

के साथ का सम्बन्ध तोड़ दिया है। ज्ञानी को अपने ज्ञाता-चिदानन्द स्वरूप का भान है और दृष्टि में वही स्वभाव आदरणीय है, परविषय कभी भी आदरणीय नहीं है। उनके अनन्तानुबन्धी राग-द्वेष का अभाव तो होगया है, अब जो अल्प राग-द्वेष शेष रहा है उसमें भी पर द्रव्यों का ग्रहण या त्याग करना तो मानते ही नहीं।

कोई ज्ञानी हजारों स्त्रियों के संयोग का उपभोग करते हुए दिखाई दें, किन्तु जड़-स्पर्श और उसके प्रति राग—इन दोनों को वास्तव में वे नहीं भोगते, परन्तु अपने अस्पर्शी ज्ञानभाव का ही उपभोग करते हैं। जो राग है उसे दोषरूप जान लेते हैं। राग की भावना नहीं है, किन्तु स्वयं अंशत: स्वभाव में परिणमित होकर पूर्ण की भावना करते हैं। अज्ञानी जीव स्पर्श को और उसके प्रति राग को भोगना मानते हैं; जिनके एक भी स्पर्श को भोगने की भावना है उन्हें त्रिकाल के स्पर्श का उपभोग करने की भावना है, क्योंकि उनकी दृष्टि ही अस्पर्शी आत्मा को भूलकर स्पर्श पर गई है।

'यह स्पर्श भोगने योग्य है'—इसप्रकार अज्ञानी जीव जड़-स्पर्श को भोगना मानते हैं, इससे उनका पुरुषार्थ स्पर्शादि पर द्रव्यों के प्रति राग में रुक गया है, किन्तु वे अपने पुरुषार्थ को स्वभावोन्मुख नहीं करते। ज्ञानी जीव ऐसा मानते हैं कि 'मैं पर-स्पर्श का उपभोग कर ही नहीं सकता'—इससे स्पर्शादि परद्रव्यों के प्रति राग के पुरुषार्थ का बल नष्ट हो

गया है और अपने स्वभाव की भावना द्वारा पुरुषार्थ को स्वोन्मुख किया है।

अज्ञानी को स्वभाव की रुचि छूटकर स्पर्श की रुचि है, इससे बाह्य में वह सर्वस्व-त्यागी दिखाई देता हो तब भी अन्तरंग में राग की और राग के फल की रुचि होने से उसी समय तीनलोक के विषयों को भोगने का अभिप्राय विद्यमान है। ज्ञानी के मात्र आत्मस्वभाव की ही रुचि है, उसके बाह्य में छह खण्ड के राजपाट का संयोग होने पर भी रुचि में तो उस सबसे अलिप्त ही है, उसकी रुचि किसी परद्रव्य में नहीं उलझती। पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण ज्ञानी के भी आसक्ति हो, किन्तु पर का उपभोग करने की भावना नहीं है, और राग की भी भावना नहीं है।

श्री वीतराग की वाणी का श्रवण भी पर-विषय है और स्त्री भी पर-विषय है, ज्ञानी के किसी भी पर-विषय की रुचि नहीं है। वीतराग की वाणी के श्रवण की भी भावना ज्ञानी के नहीं है। अशुभराग को दूर करने करने से शुभराग आये और वीतराग की वाणी का श्रवण करे तथापि उस समय भी ऐसी भावना है कि–इस शुभराग और वाणी का लक्ष्य छोड़कर स्वभाव में स्थिर होजाऊँ। अज्ञानी जीव स्त्री को बुरा और भगवान की वाणी को अच्छा मानकर परविषय में दो भेद करता है, परन्तु मेरे स्वभाव से समस्त परविषय भिन्न हैं—इसप्रकार वह स्व-पर के भेद को नहीं जानता। अज्ञानी को श्रवण की और उसके राग की भावना है; जिसके वीतराग की

वाणी को श्रवण करने की भी रुचि है उसके सदैव पर विषयों के अवलम्बन की भावना है, किन्तु पर विषय से हटकर स्वरूप का लक्ष्य करने की भावना नहीं है। ज्ञानी के आत्मस्वरूप का लक्ष्य है, इससे वीतराग की वाणी को श्रवण करने की रुचि नहीं है।

मुख्य दो दिशाएँ हैं—या तो आत्मस्वभाव की मुख्यता, अथवा विषयों की मुख्यता। यदि पर पदार्थों को जान लूँ तो मेरा ज्ञान और सुख प्रगट हो–ऐसी अज्ञानी की मान्यता है और इससे उसके निरन्तर विषयों की ही मुख्यता है। ज्ञानी के ऐसी भावना है कि अन्तरस्वभाव में एकाग्र होऊँ तो ज्ञान और सुख प्रगट हो; इसलिये उसके निरन्तर स्वभाव की मुख्यता है।

अपने ज्ञान में त्रैकालिक आत्मस्वभाव की मुख्यता और विकारादि की गौणता करना, सो सम्यग्ज्ञान है और अपने ज्ञान में विकारादि की मुख्यता करना तथा शुद्धस्वभाव को भूल जाना सो अज्ञान है।

(४१) इच्छाएँ दूर करने के लिये ज्ञानी और अज्ञानी की मान्यता का महान् अन्तर

अज्ञानी ऐसा मानता है कि मेरे जो कुछ भी इच्छा होती है, उसका दुःख परवस्तु का ग्रहण करने से दूर हो जायेगा। जिस परवस्तु के लक्ष्य से इच्छा होती है उस परवस्तु को प्राप्त कर लूँ तो मेरी इच्छा दूर हो जायेगी और शांति होगी,

अर्थात् इच्छारूपी अग्नि में पर को ग्रहण करने की आकुलता-रूपी ईंधन डालने से (वह इच्छारूपी अग्नि) शांत होजायेगी; इसप्रकार की मान्यता से अज्ञानी जीव पर-विषयों का ग्रहण करना चाहता है।

अब, प्रथम तो परवस्तु का ग्रहण ही स्वयं नहीं कर सकता; परवस्तु का वियोग सो इच्छा का कारण और परवस्तु का संयोग सो इच्छा दूर करने का कारण—इसप्रकार अज्ञानी ने पराधीनता मान रखी है। किन्तु, अपने स्वभाव की एकाग्रता से च्युत हुआ इससे इच्छा हुई और स्वभाव की एकाग्रता करूँ तो इच्छा दूर हो—ऐसा न मानने के कारण अज्ञानी के सभी उपाय मिथ्या हैं।

ज्ञानी के जब इच्छा होती है तब वे ऐसा नहीं मानते कि परविषयों के ग्रहण द्वारा वह दूर हो सकती है। परविषय के लक्ष्य से तो उल्टी इच्छा में वृद्धि होती है। मैं अपने स्वरूप की एकाग्रता से च्युत हुआ; इसलिये इच्छा हुई है, इस-लिये वह इच्छा दूर करने का उपाय ज्ञान की तीव्रता करके स्वभाव में एकाग्रता करना ही है। स्वभाव में एकाग्र होऊँ तो इच्छा नष्ट हो जाये और विषयों का लक्ष्य भी छूट जाये। ऐसे भानपूर्वक स्वभाव की एकाग्रता के बल से ज्ञानी इच्छा को नष्ट कर देते हैं। अज्ञानी की इच्छाएँ कभी नष्ट नहीं होतीं।

इच्छाकी पूर्णता इन्द्रिय-विषयोंके द्वारा होगी, ऐसी मान्यता होने के कारण अज्ञानी जीव उन इन्द्रियों को पुष्ट करना

चाहता है; क्योंकि वह ऐसा मानता है कि यदि इन्द्रियाँ शिथिल होंगी तो विषयों का ग्रहण भलीभाँति नहीं हो सकेगा। आँख की ज्योति यदि कम होगी तो दिखाई नहीं देगा और भगवान के दर्शन तथा शास्त्र-स्वाध्याय नहीं हो सकेगी; कानों से कम सुनाई देगा तो व्याख्यानादि नहीं सुन सकेंगे—इत्यादि प्रकार से मानकर अज्ञानी जीव पर विषय की भावना से सदैव इन्द्रियों को पुष्ट करना चाहते हैं और उनके द्वारा विषय ग्रहण करने से इच्छा शांत होगी—ऐसा मानते हैं। किन्तु उनकी इस मान्यता से तो विषय ग्रहण की इच्छा उल्टी वढ़ती ही जाती है।

ज्ञानी ऐसा मानते हैं कि अपने ज्ञान की तीव्रता में वृद्धि करूँ तो यह इच्छा नष्ट हो जाये। इसप्रकार वे पर विषयों को इच्छा नष्ट करने का उपाय नहीं मानते, किन्तु ज्ञानस्वभाव की एकाग्रता को ही उपाय मानते हैं; इसलिये ज्ञानकी तीव्रता वढ़ाना चाहते हैं, और ज्ञान की तीव्रता के वल से विषयों की इच्छा को नष्ट कर देते हैं। पर विषयों के ग्रहण करने को ज्ञानी इच्छा नष्ट करने का उपाय नहीं मानते इससे उनके ऐसी भावना नहीं रहती कि 'इन्द्रियाँ पुष्ट होंगी तो विषय ग्रहण भलीभांति हो सकेगा, इसलिये इन्द्रियों को पुष्ट रखूँ।' किन्तु उनके ऐसे भानपूर्वक स्वभाव की पुष्टि की भावना होती है कि—'इन्द्रियाँ शिथिल होती हैं तो भले हो जायें, इन्द्रियों के शिथिल होने पर भी मैं अपने स्वभाव को पुष्ट करके इच्छा को तोड़कर शांति प्रगट कर सकता हूँ।'

अज्ञानी जीव विषयों का ग्रहण करके इच्छाओं को शांत करना चाहता है, अर्थात् इन्द्रियाँ पुष्ट रहें तो विषय ग्रहण करने की शक्ति बढ़े—ऐसा मानकर अनेक उपायों द्वारा इन्द्रियों की पुष्टि करना चाहता है। अब, इन्द्रियों द्वारा प्रवर्तमान ज्ञान तो अपने सन्मुख हुए विषयों का ही किंचित् ग्रहण कर सकता है, इससे अज्ञानी अनेक उपाय करके इन्द्रियों का और उनके विषयों का संयोग करना चाहता है; और इससे इच्छा को शांत करने के लिये इन्द्रियों की पुष्टि, पर विषयों का संयोग और उनका उपभोग करना चाहता है। इन उपायों से तो आकुलता उल्टी बढ़ती है। परन्तु उस मूढ़ जीव की दृष्टि पर के ऊपर ही है; विषय सेवन की भावना में आत्मा के विचार का अवकाश ही उसे नहीं मिलता। यदि अंशमात्र भी विचार बढ़ाकर आत्मा की ओर देखे तो उसे ध्यान आये कि ज्यों ज्यों मैं परविषयों को प्राप्त करने की और उन्हें भोगने की भावना करता हूँ त्यों-त्यों इच्छा शान्त नहीं होती, किन्तु उल्टी बढ़ती जाती है। इसलिये इच्छा शान्त करने का उपाय विषयग्रहण नहीं, किन्तु अन्य कोई उपाय है।

ज्ञानी ऐसा समझते हैं कि इन्द्रिय-विषयों के सन्मुख होने से मुझे यह इच्छा हुई है, यदि मैं आत्मसन्मुख होऊँ तो यह इच्छा नष्ट हो जायेगी। संयोग हो अथवा न हो, और इन्द्रियाँ भी हों या न हों—मेरी इच्छा का शान्त होना उनके आधीन नहीं है। ऐसी भावना होने के कारण ज्ञानी के इन्द्रियाँ, उनके विषय और उनकी ओर का राग—सबकी

भावना नहीं होती; किन्तु मात्र आत्मस्वभाव की एकाग्रता की भावना होती है। तथापि ज्ञानी के संयोग हो और आसक्ति का राग भी हो, किन्तु किसी परवस्तु को भोगने की भावना उनके नहीं होती, रुचि नहीं होती। आसक्ति का राग होना वह वर्तमान जितना अल्प दोप है, किन्तु उसमें अभिप्राय का दोष नहीं है। और पर की रुचि होना सो महान् दोष है, उसमें अभिप्राय की ही भूल है।

अज्ञानी के जब इच्छा हुई तब उसने उस इच्छा को जाना और पर-विपयों को भी जाना; किन्तु उस समय इच्छा और परवस्तु से भिन्न—ऐसे अपने ज्ञानस्वभाव की एकाग्रता-पूर्वक ज्ञान करना चाहिये, उसके बदले स्वभाव को भूलकर इच्छा में और परविपयों में एकाग्र हो जाता है, इसलिये उसका ज्ञान मिथ्या है, क्षणिक है, वह अल्पकाल में ही नाश हो जायेगा। यदि स्वभाव के लक्ष्य से ज्ञान करे तो वह ज्ञान सम्यक् हो और स्वभाव की एकता वाला होने से वह निरन्तर स्थिर रहे।

ज्ञानी के जब इच्छा हुई तब उन्होंने उस इच्छा को जाना, परविपयों को भी जाना और उसी समय इच्छा और परविपयों से भिन्न स्वभाव को भी जाना। वहाँ अपने स्वभाव की एकता को स्थिर रखकर इच्छादि को जान लिया, किन्तु उनकी भावना नहीं की; इसलिये उस समय भी उनके सम्यक्-ज्ञान में वृद्धि हुई और इच्छा नष्ट हो गई।

दुःख दूर करने के अज्ञानी के सभी उपाय मिथ्या हैं,

क्योंकि—इन्द्रियों द्वारा विषयों का ग्रहण होने से मेरी इच्छा पूर्ण होगी—ऐसा जानकर प्रथम तो वह अनेक प्रकार के भोजनादि के द्वारा इन्द्रियों को प्रबल बनाना चाहता है और ऐसा ही जानता है कि यदि इन्द्रियाँ प्रबल रहें तो मुझमें विषय ग्रहण करने की शक्ति बढ़े। इन्द्रियों को प्रबल करने के लिये अनेक बाह्य कारणों को प्राप्त करना चाहता है। इन्द्रियाधीन प्रवर्तन करता हुआ ज्ञान तो अपने सन्मुख हुए विषयों का ग्रहण कर सकता है, इससे वह अनेक बाह्य प्रयत्नों द्वारा विषयों और इन्द्रियों का संयोग करना चाहता है। अनेक प्रकार के भोजनादिक का संयोग जुटाने के लिये अत्यन्त खेद-खिन्न होता है। जब तक वे विषय इन्द्रियसन्मुख रहते हैं तब तक तो उनका किंचित् स्पष्ट ज्ञातृत्व रहता है, किन्तु पश्चात् मन द्वारा स्मरण मात्र ही रहता है और काल व्यतीत होने पर वह स्मरण भी मन्द होता जाता है—इससे उन विषयों को अपने आधीन रखने का प्रयत्न करता है और प्रतिक्षण उनका ग्रहण करता रहता है। इन्द्रियों द्वारा तो एक समय में किसी एक ही विषय का ग्रहण होता है, किन्तु यह जीव अनेक प्रकार के विषयों को ग्रहण करने की इच्छा रखता है इससे शीघ्रतापूर्वक एक विषय को छोड़कर दूसरे को ग्रहण करता है और उसे छोड़कर अन्य को लेता है। इस प्रकार विषयों के अर्थ से दुःखी रहता है और स्वयं को जैसा भासित हो वैसा ही उपाय किया करता है; किन्तु अज्ञानी के वे सभी उपाय व्यर्थ हैं।

अपनी इच्छानुसार बाह्य वस्तुओं का संयोग होना अपने

आधीन नहीं है; और कदाचित् उस प्रकार का संयोग हो जाये तो भी उसका ज्ञातृत्व बढ़ना, वह कहीं इन्द्रियों की प्रबलता से नहीं होता, किन्तु अपने ज्ञान–दर्शन की विकास-शक्ति में वृद्धि करे तो ज्ञातृत्व बढ़े। किसी का शरीर पुष्ट होने पर भी उसमें ऐसी शक्ति अल्प देखने में आती है और किसी का शरीर दुर्बल हो तथापि उसमें ऐसी शक्ति अधिक दिखलाई देती है। इसलिये भोजनादि के द्वारा इन्द्रियों को पुष्ट करने से कुछ भी सिद्धि नहीं होती। किन्तु कषायादिक कम होने से ज्ञान–दर्शन में वृद्धि होती है और उसी समय विषयग्रहण शक्ति बढ़ती है। अज्ञानी जीव विषयों का ग्रहण करके इच्छा को शांत करना चाहते हैं–उन्हें समझाने के लिये यहाँ कहा है कि हे भाई! विषयों का ग्रहण भी ज्ञान-दर्शन शक्ति के बढ़ने से ही बढ़ता है, इसलिये तू अपने ज्ञान-दर्शन को संभाल। और फिर, विषयों का संयोग मिलता है वह अधिक समय तक स्थिर नहीं रहता, तथा समस्त विषयों का संयोग भी नहीं मिलता, इससे जीव के उसकी आकुलता ही बनी रहती है, और उन विषयों को अपने आधीन रखकर जल्दी जल्दी ग्रहण करना चाहता है, किन्तु वे अपने आधीन नहीं रहते; क्योंकि 'यह भिन्न द्रव्य स्वयं अपने अपने आधीन परिणमन करते हैं।" यह जीव अत्यन्त व्याकुल होकर सर्व विषयों को युगपत् ग्रहण करने के लिये आकुल रहता है और एक विषय को छोड़कर दूसरे को ग्रहण करने के लिये भी यह जीव दौड़-धूप करता है; किन्तु परिणाम में उसके इच्छा रूपी रोग ज्यों का त्यों ही रहता है और वह दुःखी होता

रहता है, जैसे 'ऊँट के मुंह में जीरा' डालने से क्या उसकी भूख शान्त हो जायेगी ? नहीं होगी; वैसे ही जिसे सर्व विषयों को ग्रहण करने की इच्छा है उसके एक विषय का ग्रहण होने से किसप्रकार इच्छा दूर होगी ? और इच्छा शान्त हुए बिना सुख भी नहीं होगा; इसलिये अज्ञानी के यह सभी उपाय व्यर्थ हैं।

स्वयं समस्त पर विषयों को ग्रहण करने की इच्छा करता है किन्तु उन सबको एकसाथ ज्ञात करने का सामर्थ्य अपने में प्रगट नहीं हुआ है। यदि इच्छा तोड़कर ज्ञानस्वभाव में एकाग्रता करे तो केवलज्ञान प्रगट हो और उसमें एकसाथ ही सर्व पदार्थों का ग्रहण हो जाये, इससे उसकी विषय ग्रहण की आकुलता नष्ट हो और सम्पूर्ण सुखी हो जाये। अज्ञानी वास्तव में पर विषयों को ग्रहण नहीं कर सकता, मात्र उन्हें जानता है और उनमें एकत्वबुद्धि से राग करता है, तथा पर को ग्रहण करने की विपरीत मान्यता से आकुलता द्वारा दुःखी होता है। ज्ञानियों ने पर के साथ की एकत्वबुद्धि को छोड़ दिया है, इसलिये उनके पर का ग्रहण करने की मान्यतापूर्वक के सब राग-द्वेष नष्ट हो गये हैं और ज्ञानस्वभाव के ग्रहण द्वारा (एकाग्रता द्वारा) ज्ञानको क्रमशः बढ़ाकर केवलज्ञान प्रगट करते हैं; वहाँ समस्त पदार्थ ज्ञान में एक ही साथ ज्ञात होते हैं। इससे सभी विषयों का ग्रहण (ज्ञान) करने के लिये भी स्वभाव की एकाग्रता ही उपाय है। समस्त लोक किसी को मिलना नहीं है किन्तु उसका ज्ञान तो प्रत्येक जीव कर सकता है।

प्रश्नः—विषय-ग्रहण के द्वारा हम कई जीवों को सुखी होता देखते हैं, तो फिर आप उस उपाय को सर्वथा झूठा कैसे कहते हैं ?

उत्तर—विषय-ग्रहण से तो वे जीव सुखी नहीं होते किन्तु भ्रमवश उससे सुख मानते हैं। यदि वे विषय ग्रहण के द्वारा सुखी हुए हों तो उनको अन्य विषयों की इच्छा कैसे रहे ? जैसे रोग मिट गया हो तो फिर दूसरी औषधि कोई किसलिये खाये ? वैसे ही, दुःख दूर होने के पश्चात् अन्य विषय की इच्छा वह किसलिये करे ? यदि विषय ग्रहण करने के पश्चात् इच्छा शान्त हो—रुक जाये तो उस जीव को सुखी कहा जाये; किन्तु वह तो जब तक इच्छित विषयों का ग्रहण नहीं होता तब तक विषयों की ही इच्छा करता रहता है, एक क्षण भी इच्छा बिना नहीं निकलता। उसे सुखी कैसे माना जाये ? जैसे कोई क्षुधातुर भिखारी अपने को अन्न का एक कण मिलने से उसका भक्षण करके सुख माने, उसी-प्रकार यह महा तृष्णावान जीव किसी एक विषय का निमित्त मिलने से उसका ग्रहण करके सुख मानता है, किन्तु वास्तव में यह सुख नहीं है।

प्रश्नः—जैसे एक-एक कण मिलने पर अपनी भूख शान्त होती है वैसे ही एक-एक विषय का ग्रहण करके अपनी इच्छा पूर्ण करे तो इसमें क्या दोष ?

उत्तरः—यदि सभी दाने एकत्रित हो जायें तो ऐसा ही मान सकते हैं, किन्तु दूसरा दाना मिलने से प्रथम दाने का

निर्गमन हो जाये तो भूख कैसे मिटे ? उसी प्रकार जानने में विषयों का ग्रहण यदि एकत्रित होता जाये तो इच्छा पूर्ण हो, किन्तु जब दूसरे विषय को ग्रहण करता है तब पहले जो विषय ग्रहण किया था उसका ज्ञातृत्व नहीं रहता, तो इच्छा किस प्रकार पूर्ण हो ? इच्छा पूर्ण हुए बिना आकुलता नहीं मिटती और आकुलता मिटे बिना सुखी नहीं कहलाता। यदि जीव स्व-पर का भेदज्ञान करे तो उसका ज्ञान क्रमशः विकसित होता जाता है और अंत में पूर्ण ज्ञान में समस्त विषय एक ही साथ ज्ञात होते हैं, और वहाँ आकुलता नहीं रहती। किन्तु स्वभाव को भूलकर मात्र पर को जानता है—वह ज्ञान क्षणिक है। स्वभावाश्रित ज्ञान नित्य में मिल जाता है।

और एक विषय का ग्रहण होता है वह भी यह जीव मिथ्यादर्शनादिक के सद्भावपूर्वक करता है, और उससे उल्टा ज्ञानादि गुणों का विशेष आवरण करता है। श्री प्रवचन-सार में अध्याय १ गाथा ७६ में कहा है कि—इन्द्रियों से प्राप्त हुआ सुख पराधीन, बाधायुक्त, विनाशीक, बंध का कारण और विषम है, इससे वह सुख वास्तव में दुःख ही है। इस-प्रकार संसारी जीव अनादिकाल से जो उपाय कर रहा है वे मिथ्या ही हैं।

तो सच्चा उपाय क्या है ? यदि अपने स्वभाव की एकाग्रता से इच्छा दूर हो और एकसाथ सर्व विषयों का ग्रहण रहे तो यह दुःख दूर हो। अब, आत्मस्वरूप की एकाग्रता तो उसकी पहिचान करने से ही होती है, इच्छा तो मोह के जाने

से ही मिटती है और सबका एकसाथ ग्रहण तो केवलज्ञान होने से ही होता है। इससे उसका उपाय सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही है; उसमें भी मुख्य सम्यग्दर्शन है। यही दुःखों को दूर करने का और सुख प्रगट करने का यथार्थ उपाय जानना चाहिये।

(४२) ज्ञान दुःख का कारण नहीं है किन्तु मोह दुःख का कारण है।

क्षायोपशमिक ज्ञान दुःख का कारण नहीं है, किन्तु इच्छा ही दुःख का कारण है। पदार्थों को जानना दुःख का कारण नहीं है किन्तु मोह से विषय ग्रहण की जो इच्छा होती है वही दुःख का मूल कारण है। ज्ञान यदि स्वयं दुःख का कारण हो तो ज्यों-ज्यों ज्ञान में वृद्धि हो वैसे ही दुःख भी बढ़ता जाये और ज्ञानरहितता सुख का कारण सिद्ध हो। वैसा होने से जड़ को भी पूर्ण सुख मानना पड़ेगा। किन्तु ज्ञान तो अपना स्वाभाविक भाव है वह दुःख का कारण नहीं है; किन्तु क्षायोपशमिक ज्ञान के साथ जितना मोह मिश्रित है उतना ही दुःख है।

प्रश्नः—किसी का पुत्र परदेश में हो और वहाँ उसकी मृत्यु होगई हो; किन्तु जब तक उस मनुष्य को पुत्र की मृत्यु सम्बन्धी ज्ञान न हो तब तक उसे उस सम्बन्धी दुःख नहीं होता, और जब उसे पुत्र की मृत्यु का ज्ञान होता है तब उसी समय दुःख होता है। इसलिये ज्ञान ही दुःख का कारण है?

उत्तरः—नहीं, वहाँ ज्ञान दुःख का कारण नहीं है किन्तु पुत्र के प्रति जो मोह है—वही दुःख का कारण है। यदि ज्ञान दुःख का कारण हो तो जिस-जिसको उसके पुत्र की मृत्यु का ज्ञान हो, उन सबको बराबर दुःख क्यों नहीं होता? जिसे जितना मोह है उसे उतना ही दुःख होता है। जिस समय उस मनुष्य को पुत्र की मृत्यु का ज्ञान हुआ उसी समय उस मनुष्य ने अंतरंग भान द्वारा वैराग्य लाकर मोह न किया होता तो उसे ज्ञान होने पर भी दुःख नहीं होता; क्योंकि दुःख का कारण ज्ञान नहीं किन्तु मोह है। मिथ्यादृष्टि ऐसा मानता है कि जाना इसलिये दुःख हुआ, अथवा पुत्र की मृत्यु हुई इसलिये दुःख हुआ—यह दोनों बातें मिथ्या हैं। जितना मोह करता है उतना ही दुःख होता है—यही एक सिद्धान्त है। संयोगी पदार्थों के प्रति मोह से जो दुःख होता है उस दुःख को टालने का उपाय परवस्तु का संयोग प्राप्त करना नहीं है, और इन्द्रियों की या इच्छा की पुष्टि भी उपाय नहीं है। वास्तविक उपाय तो यह है कि संयोगी पदार्थों की दृष्टि छोड़कर असंयोगी ज्ञानस्वरूप आत्मा की दृष्टि और एकाग्रता करे तो दुःख दूर हो। संसार की किसी भी वस्तु में इस आत्मा का सुख नहीं है, सुख तो अपने आत्मा की दृष्टि करने से ही प्रगट हो सकता है।

प्रश्नः—कोई जीव सो रहा हो और उसी के पास सर्प बैठा हो; जब कोई उसे जगाये और कहे कि भाई, तेरे पास सर्प बैठा है, तब उसे तुरन्त ही भय होता है

सर्प का ज्ञान नहीं था तवतक उसे भय नहीं था, इसलिये ज्ञान से ही भय हुआ; इसप्रकार ज्ञान को ही दुःख का कारण मानना पड़ेगा ?

उत्तरः—नहीं; ज्ञान दुःख का कारण है ही नहीं। उस मनुष्य को सर्प का ज्ञान करने से भय नहीं हुआ, किन्तु शरीर के ममत्व के कारण ही भय हुआ है। सोते समय उसे कम दुःख था और सर्प का ज्ञान होने से दुःख बढ़ गया— ऐसा नहीं है। सोते समय शरीर की जितने अंश में ममता है उतने ही अंश में उसके प्रतिकूलता का भय भी अव्यक्तरूप से विद्यमान ही है। पहले अनुकूलता के राग की मुख्यता थी अव प्रतिकूलता के द्वेष की मुख्यता है, किन्तु दोनों समय जितने अंश में ममत्व है उतने ही अंश में दुःख है। यदि सर्प का ज्ञान दुःख का कारण हो, तो उसी सर्प को कोई मुनि देखें, किन्तु उन्हें किंचित् भय क्यों नहीं होता ? क्योंकि उन्हें शरीर पर ममत्व नहीं है, इससे प्रतिकूलता का भय नहीं है। जिस मनुष्य को सर्प की उपस्थिति में भय होता है उसे सर्प की अनुपस्थिति के समय भी अपनी ममता के कारण दुःख का वेदन तो था ही। जिसे जितने अंश में अनुकूलता की प्रीति हो उसे उतने ही अंश में प्रतिकूलता का भय अथवा द्वेष होता ही है।

(४३) दुःख के दो प्रकार

संसारी जीवों के दुःख के मुख्यरूप से दो भाग होते हैं।

१—अपने स्वभाव को भूलकर मिथ्यादृष्टि जीव संयोगों

में से सुख लेना चाहता है, किन्तु संयोग उसके आधीन नहीं हैं इसलिये वह प्रतिक्षण आकुल-व्याकुल होता है और दुःखी ही रहता है। ऐसे जीवों को एकान्त दुःख है, स्वाभाविक सुख का वे अंशतः अनुभव भी नहीं करते, उनके प्रतिक्षण अनन्त दुःख है।

२—अपना स्वभाव ही परिपूर्ण सुखरूप है—ऐसा ज्ञानी जीवों ने जाना है, इससे वे किन्हीं संयोगों में सुख नहीं मानते, और चाहे जैसे संयोग के समय भी उनके स्वाभाविक सुख का अंशतः अनुभव तो प्रवर्तमान रहता ही है; तथापि अभी जब तक सम्पूर्ण स्वरूपस्थिरता न हो तब तक इन्द्रिय-विषयों की आसक्ति से राग-द्वेष होता है—उतने अंश में वे भी दुःखी ही हैं। किन्तु वह दुःख अल्प है।

अज्ञानी को तो सुख-दुःख के अन्तर की ही खबर नहीं है, वह तो अनुकूल संयोगों को ही सुख मानता है; उसके वास्तव में दुःख कम नहीं होता। ज्ञानीजन ही सुख-दुःख के अन्तर को जानते हैं, और उनके ही दुःख कम होता है। आत्मा की यथार्थ पहिचान के पश्चात् ज्यों-ज्यों वीतरागभाव की वृद्धि होती है त्यों-त्यों दुःख दूर होता है।

(४४) प्रत्येक वस्तु की स्वतन्त्रता

अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि मैं परवस्तु का संयोग प्राप्त कर सकता हूँ;—वह तो स्थूल भूल है। और कर्मोदय के कारण संयोग प्राप्त होता है;—यह बात भी यथार्थ नहीं है। प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है, इसलिये प्रत्येक परमाणु के संयोग-वियोग

की क्रिया स्वयं अपने से स्वतंत्र ही होती है, उसका कर्ता कोई अन्य पदार्थ नहीं है। आत्मा तो परवस्तु के संयोग-वियोग का कर्ता नहीं है, किन्तु कर्म के कारण संयोग-वियोग होता है—ऐसा कहना भी निमित्त का कथन है। संयोग-वियोग का कर्ता जीव नहीं है—ऐसा सिद्ध करने के लिये निमित्त से कर्म को उसका कर्ता कहा है, वहाँ कर्म का होना (अस्तित्व) सिद्ध किया है। वस्तुस्वभाव से देखें तो परवस्तुएँ कर्म के आधीन परिणमित नहीं होती। जगत की कोई भी वस्तु किसी अन्य वस्तु के आधीन नहीं है। परवस्तु ऐसी पराधीन नहीं है कि आत्मा इच्छा करे उसके कारण से वह आजाये। आत्मा राग-द्वेष करे और कर्म-वन्ध हो वहाँ वास्तव में आत्मा ने राग-द्वेष किया इसलिये कर्म वन्धे—ऐसा नहीं है, किन्तु परमाणु ही अपनी स्वतंत्र योग्यता से उस समय स्वयं कर्मरूप परिणमित हुए हैं। ऐसे स्वाधीन वस्तुस्वभाव को जान ले तो जीव की स्वभावदृष्टि हो और संयोगदृष्टि दूर हो जाये।

(४५) परद्रव्य में कुछ भी करने की इच्छा की निरर्थकता और उसे छोड़ने की प्रेरणा

हे जीव! तू अपने स्वभाव को भूलकर भी परद्रव्य में कुछ भी करने को समर्थ नहीं है। तू अपने भाव में अनुकूल सामग्री प्राप्त करने की इच्छा कर, किन्तु तेरे इच्छा करने से परद्रव्यों का संयोग आजाये—ऐसा कुछ नहीं है; अर्थात् तेरी परद्रव्यों सम्वन्धी इच्छा प्रतिक्षण व्यर्थ चली जाती है। जिस वस्तु का जिस प्रकार जिस समय जैसा संयोग होना है,

उस वस्तु का उसी प्रकार उसी समय वैसा ही संयोग-वियोग होगा। वस्तु के स्वतंत्र परिणमन को कोई नहीं रोक सकता। तू चाहे जिस प्रकार माथापच्ची कर और संकल्प-विकल्प कर; उससे कहीं अनुकूल सामग्री नहीं आ जायेगी। इसलिये हे भाई! तू परद्रव्यों में कुछ भी परिवर्तन करने की अपनी व्यर्थ मान्यता को छोड़! क्योंकि तेरी इस मान्यता से तुझे ही दुःख होता है। परद्रव्यों का चाहे जो हो, उनके कर्तृत्व की मान्यता छोड़कर तू अपने स्वभाव की दृष्टि से सबका निर्विकल्प रूप से ज्ञाता रह,—यही तुझे शांति का कारण है। परवस्तु के परिणमन में—"ऐसा क्यों ?" इसप्रकार का विकल्प करना भी तेरा कर्तव्य नहीं है। सभी द्रव्य अपने स्वरूप में परिणमन करते हैं, कोई द्रव्य अपने स्वरूप से बाहर परिणमित नहीं होता, तू भी अपने ज्ञानस्वभाव में ही परिणमित हो। अनादि से ज्ञानस्वरूप को भूलकर पर के लक्ष्य से विकाररूप परिणमन कर रहा है—वही दुःख का कारण है।

(४६) स्वभावसुख का नित्यत्व और संयोगों में सुख की कल्पना का अनित्यत्व

अपने नित्यस्वभाव के लक्ष्य से जो सुख प्रगट होता है, उसमें जीव निःशंक होता है कि—चाहे जैसे संयोग आयें तो भी मेरा सुख तो मेरे स्वभाव में से ही प्रगट होता है। और अज्ञानी स्वयं जिन संयोगों में सुख की कल्पना करता है उनमें भी उसे शंका रहती है कि सदैव ज्यों का त्यों संयोग

रहेगा या नहीं ! संयोग तो अनित्य हैं। कदाचित् अपनी इच्छानुसार संयोग मिल जायें तो भी उसमें जीव का सुख नहीं है किन्तु संयोग के लक्ष्य से पराधीनता और आकुलता का दुःख ही है। जिन संयोगों में सुख की कल्पना की होगी उनके बदलने पर उसके सुख की कल्पना भी बदल जायेगी।

(४७) यथार्थ समझ वहाँ समाधान, विपरीत समझ सो आपत्ति

किसी के करोड़ों की सम्पत्ति हो, किन्तु पुत्र की इच्छा है ! और किसी के पुत्र है तो धन की आकांक्षा है ! तथा किसी के यह दोनों हैं, किन्तु उसके रक्षण–संभालने की चिन्ता ! वास्तव में तो जीव को किसी पर द्रव्य के कारण आपत्ति नहीं है किन्तु स्वयं अपनी कल्पना से ही आपत्ति खड़ी करता है। अपने स्वभाव में संतोप न आया और पर में से सुख-प्राप्ति की वृत्ति उठी वही सब से महान आपत्ति है। जहाँ यथार्थ समझ में भूल है वहाँ सभी वस्तुओं में आपत्ति है। चाहे जैसा संयोग हो किन्तु उसकी आपत्ति कभी दूर नहीं होती। और आत्मा की यथार्थ प्रतीति होने पर समस्त संयोगों पर से दृष्टि उठ जाती है, उसके अपने नित्य स्वभाव के लक्ष्य से निरंतर समाधान रहता है और संयोगों की आपत्ति दूर हो जाती है। चाहे जैसा सयोग हो किन्तु उसका समाधान विचलित नहीं होता।

(४८) विपयों का अर्थ क्या, और वे कब दूर होते हैं ?

अज्ञानी जीव वाह्य में पर वस्तु का वियोग होने से ऐसा

मानता है कि मैंने विषय छोड़ दिये। किन्तु भाई! शुद्ध आत्मा के भान बिना कहाँ एकाग्रता करके तूने विषयों को छोड़ा?

अपने असंग चैतन्यस्वभाव की दृष्टि से च्युत होकर जितने भी भाव होते हैं वे सब विषय ही हैं। परद्रव्य का संयोग-वियोग तो परद्रव्य के कारण से होता है; आत्मा अपने में जो विकारी भाव करता है वही विषय है; इन विषयों से रहित अपना स्वभाव है—ऐसी पहिचान जब तक न हो तब तक जीव यथार्थरूप से विषयों को नहीं छोड़ सकता।

(९९) स्वरूपदृष्टि और संयोगीदृष्टि

हे जीव! तेरा सुख तुझमें ही है, उसे भूलकर तू बाह्य में सुख ढूंढने का प्रयत्न करता है, उससे कुछ होने वाला नहीं है। तू अंतर्दृष्टि से अपने स्वभाव को देख। मैं आत्मा ज्ञानानन्द सुखधाम हूँ; उसकी पहिचान करूँ, रुचि करूँ और उसमें लीन होऊँ तो सुखानुभव हो। मैं स्वयं से ही प्रतिक्षण परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप—सुख स्वरूप हूँ;—इस प्रकार अपने स्वभाव की दृष्टि से ज्ञानी के उसी क्षण पूर्ण हो जाने की भावना है। किन्तु अज्ञानी को ऐसी मान्यता है कि मैं परपदार्थों से सुख भोग लूँ, इससे उसे पर विषयों को एकसाथ ग्रहण करने की तीव्र आकुलता है। स्वरूपदृष्टि में स्वभाव की पूर्णता की भावना है और वह स्वाधीन होने से हो सकती है। संयोगदृष्टि में सभी संयोग एकत्रित करने की भावना है, किन्तु वह अपने आधीन नहीं है, इससे संयोगदृष्टि में सदैव आकुलता का ही वेदन होता रहता है; और स्वरूपदृष्टि में निराकुलता है।

(५०) स्वभाव के आश्रय से साधक की निःशंकता

संयोग प्राप्त करूँ तो सुख मिलेगा;—ऐसा जो मानता है उसे आत्मस्वभाव में सहजसुख है—उसकी रुचि नहीं है। और जिसे स्वभावसुख की रुचि है उसे अपने सुख के लिये जगत के किसी संयोग की चिंता नहीं है। जगत में जो होना होगा वह होगा; चाहे जैसा हो, किन्तु मुझे अपने आत्म-धर्म करने का यह अवसर नहीं छोड़ना है। जो संयोग-वियोग होना है उसे बदलने को कोई त्रिकाल में भी समर्थ नहीं है। कोई संयोग-वियोग मेरी स्व-परिणति को बदल सके —ऐसा नहीं है। प्रथम ऐसा विश्वास होना चाहिये कि जो संयोग-वियोग होना है, वही वस्तुस्वरूप की पर्यायानुसार होता है। मेरी पर्याय किसी संयोग के आधीन नहीं होती किन्तु मेरे त्रैकालिक स्वभाव से ही वह आती है।" इसप्रकार जिस के स्वभावदृष्टि हुई है वह साधक है। साधक ऐसा निःशंक होता है कि मेरे साधक स्वभाव को विघ्न करने वाली कोई वस्तु इस जगत में नहीं है। मैंने अपने स्वभाव के आश्रय से जो साधकभाव प्रगट किया है उस भाव को तोड़ने में कोई भी संयोग समर्थ नहीं है। मैं अपने स्वभाव के ही आश्रय से अपने साधकभाव को पूर्ण करके पूर्ण सिद्धदशा प्रगट करूँगा। उसमें विघ्न डालने के लिये जगत के कोई भी परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव समर्थ नहीं हैं। ऐसी निःशंकता कब आती है? प्रथम तो श्रद्धा में यह बात बैठना चाहिये कि—संयोग-वियोग कोई मेरे आधीन नहीं हैं, और स्वभाव की महिमा आना चाहिये। साधक दशा में पुरुषार्थ की अशक्ति

के कारण राग-द्वेष होते अवश्य हैं, किन्तु वे राग-द्वेष मेरे साधक स्वभाव को रोकेंगे—ऐसी शंका नहीं होती। साधक तो स्वभाव के आश्रय से निःशंकतापूर्वक आगे ही बढ़ते हैं।

(५१) स्वभाव की और संयोग की भावना का फल

जीव ज्ञानस्वभाव में स्वयं से परिपूर्ण है; जिसे अपने पूर्ण स्वभाव की दृष्टि है वह पूर्णता प्रगट करने की ही भावना करता है, किन्तु परद्रव्यों की भावना नहीं करता। और जिसे अपने पूर्ण स्वभाव की दृष्टि नहीं है वह संयोग की पूर्णता की भावना करता है, किन्तु स्वभाव की भावना नहीं करता; उसकी दृष्टि में विपरीतता है। जिसे स्वभाव की पूर्णता का भान है वह उसके माहात्म्य द्वारा क्रमशः विकास करके पूर्णता प्रगट करता है; और जिसे स्वभाव की पूर्णता का भान नहीं है किन्तु पर की भावना है वह जीव अपनी विपरीत दृष्टि के द्वारा स्वभाव की विराधना करके क्रमशः अपनी पर्याय को हीन करते-करते विपरीत दृष्टि के फलस्वरूप निगोदपर्याय को प्राप्त करता है।

(५२) जीव को क्या करना है ?

जगत की स्व और पर समस्त वस्तुएँ तो जैसी हैं वैसी ही हैं; वस्तु को नवीन नहीं करना है और न उसे परिवर्तित करना है। किन्तु स्व और पर वस्तुओं को यथार्थरूप से जानकर, अपना जो उपयोग अनादिकाल से पर की ओर है उसे स्व की ओर उन्मुख करना है और जो अनादि से पर में अपनत्व की मान्यता कर रहा है उसे छोड़कर शुद्ध स्व-

भाव में ही अपनापन मानना है एवं अनादि से पर लक्ष्य के कारण रागादि में एकाकार हो रहा था, उसे छोड़कर अब अपने स्वभाव के लक्ष्य से एकाकार होना है;—इसी का नाम साधकत्व है, यही धर्म है और यही संसार-दुःखों का अन्त करके मोक्षसुख प्रगट करने का उपाय है।

(५३) वस्तु की मर्यादा—उसका स्वतंत्र परिणमन

अनादिकाल से यह जीव संसार में दुःखी हो रहा है, और अपनी मान्यतानुसार अनेक उपायों द्वारा उस दुःख को दूर करना चाहता है; किन्तु उसके सभी उपाय व्यर्थ हैं। अज्ञानीजन एक उपाय यह मानते हैं कि हमारी इच्छानुसार सभी पदार्थ प्रवर्तन करें तो दुःख दूर हो जाये; और जैसा अपना श्रद्धान है वैसा ही अन्य पदार्थों को परिणमित करना चाहते हैं। अब, यदि यह पदार्थ उनकी इच्छा के आधीन होकर परिणमन करें तो उनका श्रद्धान यथार्थ हो; किन्तु "अनादिनिधन वस्तु स्वयं अपनी मर्यादानुसार भिन्न-भिन्न परिणमन करती है, कोई किसी के आधीन नहीं है और न कोई पदार्थ किसी के परिणमित करने से परिणमित होता है।" तथापि यह जीव उसे अपनी इच्छानुसार परिणमित करना चाहता है। किन्तु यह कोई उपाय नहीं है—यह तो मिथ्यादर्शन ही है।

कोई भी जीव अपनी इच्छानुसार पर द्रव्यों को परिणमित नहीं कर सकता, किन्तु स्वयं सम्यक्ज्ञान प्रगट करके जगत के समस्त पदार्थों का यथावत् ज्ञान कर सकता है। इस

जगत की प्रत्येक वस्तु निरंतर भिन्न-भिन्न अपने-अपने स्वरूप में स्वतंत्ररूप से परिणमन करती है; कोई किसी के आधीन परिणमित नहीं होती। आत्मा, आत्मा की मर्यादा में परिणमन करता है, किन्तु कोई कर्मादि उसे परिणमित नहीं करते। शरीर, शरीर की मर्यादा में परिणमन करता है। किन्तु आत्मा उसे परिणमित नहीं करता। कर्म का प्रत्येक परमाणु उसकी अपनी मर्यादा में परिणमन करता है, किन्तु आत्मा उसे परिणमन नहीं कराता। कोई भी पदार्थ अपने स्वरूप की मर्यादा से बाहर होकर अन्य वस्तु को परिणमित नहीं कराता, और किसी पदार्थ की मर्यादा में कोई अन्य वस्तु प्रवेश करके उसे परिणमित नहीं करा सकती। किसी एक वस्तु की मर्यादा में अन्य वस्तु का प्रवेश ही नहीं है, प्रत्येक वस्तु अपनी-अपनी मर्यादा में भिन्न ही है; तब फिर एक वस्तु दूसरी वस्तु में क्या कर सकती है? यदि एक वस्तु दूसरी में किसी भी प्रकार से कुछ करे तो वस्तु की मर्यादा ही टूट जाये, और जगत में किसी स्वतंत्र वस्तु का अस्तित्व न रहे।

इस जगत में जितना वस्तुएँ हैं वे सब द्रव्य-गुण-पर्याय-स्वरूप हैं। द्रव्य-गुण त्रिकाल हैं और पर्याय प्रतिसमय नवीन प्रगट होती है। वह पर्याय वस्तु के द्रव्य-गुण में से उसकी मर्यादापूर्वक ही आती है। चेतन वस्तु की पर्याय जड़रूप नहीं होती और जड़वस्तु की पर्याय चेतनरूप नहीं हो जाती; —ऐसी वस्तु की मर्यादा है। आत्मा की पर्याय कभी भी कर्मके आधीन परिणमित नहीं होती और कर्म के रजकणों की पर्याय

आत्मा के आधीन परिणमित नहीं होती। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की पर्याय में कुछ भी कर सके—ऐसी द्रव्य की मर्यादा कभी है ही नहीं। वस्तु किस समय अपनी पर्याय में परिणमन नहीं करती कि वह परद्रव्य का कुछ करने जाये? अपनी पर्याय में ही परिणमन करने वाली वस्तु पर का कुछ भी, किसप्रकार कर सकती है?

(५४) उत्पाद—व्यय-ध्रुव

अपनी अवस्था के उत्पाद का आधार वस्तु स्वयं ही है, अन्य कोई नहीं। अपनी पूर्व अवस्था का जाना, नवीन पर्याय का होना, और वस्तु का एकरूप ध्रुव स्थिर रहना—इसके अतिरिक्त परपदार्थों का लेना-देना कुछ भी वस्तु में नहीं होता; ऐसा ही वस्तुस्वभाव है। तेरा उत्पाद प्रतिसमय तेरे ही आधीन है, इसलिये तू अपने द्रव्यस्वभाव की ओर देख, तो तेरी अवस्था का उत्पाद द्रव्य की जाति का शुद्ध प्रगट हो। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का स्वरूप समझकर परद्रव्यों के आश्रय का लक्ष्य छोड़कर स्वद्रव्य की दृष्टि करना ही उसका प्रयोजन है।

(५५) लोभ को दूर करने के लिये पूर्ण स्वरूप की भावना

जीव अनादि से अपने स्वरूप को भूलकर पर में सुखबुद्धि से परवस्तुओं को प्राप्त करने की इच्छा करता है, और इससे वह सदैव लोभ कषाय के द्वारा दुःखी हो रहा है।

जहाँ तक अपने परिपूर्ण स्वभाव को नहीं जाना वहाँ तक जीव का लोभ दूर नहीं हो सकता। मैं त्रिकाल परिपूर्ण हूँ, कृतकृत्यस्वरूप भगवान हूँ, मेरा स्वरूप ही सर्व प्रयोजन से सिद्ध है, मुझे किसी परवस्तु की आवश्यकता नहीं है;—इस प्रकार अपने स्वभाव की श्रद्धा और भावना द्वारा लोभ दूर हो जाता है। स्वभाव की पूर्णता की भावना ही लोभ को दूर करने का उपाय है।

(५६) अपना स्वरूप सहज होने पर भी कठिन क्यों प्रतीत होता है?

जीव ने अनादिकाल से अपने स्वरूप को नहीं जाना, इसलिये अपने को विकारी एवं पराश्रित मान रहा है; अपना स्वरूप तो स्वाधीन और शुद्ध है, किन्तु मैं विकारी और पराधीन हूँ—ऐसी विपरीत मान्यता की जड़ को नहीं छोड़ता, इससे अपना ही स्वरूप अपने को दुष्कर प्रतीत होता है। परवस्तुएँ तो आत्मा से भिन्न ही है, उन्हें दूर नहीं करना है। परवस्तु को त्यागने का भाव और कषाय की मन्दता करना, वह तो जीव को सरल मालूम होता है, और पूर्वकाल में तो वह अनन्तवार किया है, किन्तु अपने स्वरूप की प्रतीति एवं वीतरागता पूर्वकाल में कभी न की होने से, और वर्तमान में उसकी महिमा न होने से, अपना स्वरूप होने पर भी कठिन प्रतीति होता है। यदि पात्र होकर अभ्यास करे तो अपना स्वरूप समझना कठिन नहीं है किन्तु सहज ही समझ में आने योग्य है।

सत् को समझने का मार्ग कठिन नहीं है, किन्तु अपनी अनादिकालीन विपरीत मान्यता को छोड़कर सत् की ओर रुचि करना जीव को कठिन होता है। अज्ञानी तो परवस्तु को ही इष्ट-अनिष्ट मानकर राग-द्वेष में ही रुक गया है। ज्ञानियों ने पर से भिन्न निजस्वभाव की पहिचान के द्वारा उस विपरीत मान्यता को छोड़ दिया है, इससे वे परवस्तु को इष्ट-अनिष्ट नहीं मानते और राग-द्वेष में नहीं रुकते, किन्तु पर से और रागादि से भिन्न अपने सहजस्वरूप का ही निरन्तर अनुभव करते हैं।

आत्मा स्वयं अपने को महँगा नहीं है, अर्थात् आत्मा का स्वभाव ऐसा नहीं है कि समझ में न आये; किन्तु स्वयं से समझा जा सके और अनुभव में आ सके ऐसे स्वभाव वाली वह वस्तु है; परन्तु अपनी विपरीत मान्यता को रखकर और स्वभाव का विश्वास किये बिना समझना चाहता है—इससे कठिन प्रतीत होता है। समझने का जो मार्ग है उसे ग्रहण करे तो महँगा नहीं किन्तु सरल है; किन्तु जो मार्ग है उसे न जाने और विपरीत मार्ग को पकड़े तो अनन्तकाल में भी आत्मा को नहीं समझ सकेगा। जिसे आत्मस्वभाव की रुचि नहीं है उसे सत् सुनते हुए, अपनी मानी हुई बात पर कटाक्ष (प्रहार) होने से वह कठिन प्रतीत होता है; स्वयं ही अपने को भूल रहा है। जो ऐसा कहता है कि 'मुझे अपना स्वरूप समझ में नहीं आता,' अथवा 'मैं नहीं'—उसे ज्ञानी समझाते हैं कि हे भाई! 'मैं नहीं'—ऐसा कहने में भी प्रथम तो 'मैं' शब्द आया

है; तो वह 'मैं' शब्द तूने किसके लिये कहा है? इसलिये अपना आत्मा तो सदैव प्रगट है, किन्तु स्वयं को उसका विश्वास नहीं होता। और 'मुझे समझ में नहीं आयेगा'—ऐसा कहाँ से निश्चित् किया? 'समझ में नहीं आयेगा'—यह निश्चित करने वाला ज्ञान किसका है? जिसके आधार से यह ज्ञान होता है उसकी ओर उन्मुख हो तो अपना ज्ञानस्वभाव पूर्ण है—ऐसा भान हो।

(५७) अपने स्वभाव को समझना सरल है, उसमें किसी अन्य की आवश्यकता नहीं होती

अपना आत्मस्वभाव समझने के लिये किसी परपदार्थ की आवश्यकता नहीं होती। स्वभाव को समझने के लिये पैसे की आवश्यकता नहीं होती; यदि पैसा न हो तब भी समझा जा सकता है; शरीर स्वस्थ न हो—रोग हो तब भी वह समझ में आ सकता है। स्वभाव को समझने के लिये राग करने की भी आवश्यकता नहीं होती। तब फिर जिसमें किसी भी पर-पदार्थ की आवश्यकता नहीं है, किन्तु मात्र स्वयं से ही हो सकता है, उसे कठिन या असाध्य कैसे कहा जाये? स्वभाव तो स्वयं से सहज है; पर की रुचि में लीन हुआ है उसे छोड़कर यदि स्वभाव की रुचि में लीन हो तो स्वभाव स्वयं से ही समझ में आये ऐसा है। कोई परवस्तु जीवको प्रतीति करने में नहीं रोकती, और सहायता भी नहीं देती; और वास्तव में जो राग-द्वेष होते हैं वे भी यथार्थ प्रतीति करने में नहीं रोकते और सहायता भी नहीं देते, किन्तु परवस्तु से

मुझे सुख हो जाये, तथा जो राग-द्वेप हैं सो मैं हूँ—ऐसी मान्यता की पकड़ ही उसके ज्ञान को मूढ़ वना देती है। विकार में अपनापन माना है इसलिये उसी में लीन होकर प्रवर्तन करता है, किन्तु विकार से हटकर ज्ञान और शुद्ध स्वभाव की ओर नहीं वढ़ता। यदि राग से हटकर चैतन्यस्वभाव की ओर ज्ञान को वढ़ाये तो उसी क्षण स्वभाव का अनुभव हो।

(५८) ज्ञानी और अज्ञानी के राग में अन्तर

परवस्तुएँ मुझ से भिन्न हैं, कोई भी परवस्तु मुझे इष्ट-अनिष्ट नहीं है, मेरे स्वभाव में राग नहीं है;—इसप्रकार पर से भिन्न और स्व से परिपूर्ण स्वभाव की दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है; सम्यग्दर्शन प्रगट होने के बाद जीव को पुरुषार्थ की अशक्ति से होने वाले राग-द्वेष अल्प ही होते हैं, और उन अल्प राग-द्वेप को भी सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वभाव में स्वीकृत नहीं करते, इससे उन्हें स्वभाव के वल से राग की सीमा अल्प ही है और उसका भी प्रतिक्षण अभाव होता रहता है। अज्ञानी जीव परपदार्थ में इष्टता-अनिष्टता की कल्पना करके स्वभाव को भूल जाते हैं, इससे उनके राग-द्वेप की सीमा नही है; वे राग-द्वेप में ही एकरूप होकर प्रवर्तन करते हैं और उनकी ज्ञानशक्ति का प्रतिक्षण ह्रास होता जाता है।

(५९) राग-द्वेप के समय सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि का परिणमन कैसा होता है ?

परवस्तु से तो आत्मा मुक्त ही है, अर्थात् कोई भी पर-

वस्तु आत्मा को राग-द्वेष नहीं कराती—इसप्रकार प्रथम स्वीकार करके अपने आत्मा में दृष्टि डालने से दो पक्ष होते हैं। द्रव्य-स्वभाव में तो कभी राग-द्वेष नहीं है और पर्याय में जब तक अपूर्णता होती है तब तक राग-द्वेष होते हैं। जिन्हें ऐसी पहि-चान हुई हो वे जीव पर्याय के क्षणिक राग-द्वेष को अपना कर्तव्य ही नहीं मानते; अकर्तव्यबुद्धि से होने वाले राग-द्वेष बिलकुल अल्प होते हैं। 'बिलकुल अल्प' कहने से ऐसा नहीं समझना कि सम्यग्दर्शन होने से जीव को परिवार, व्यापार, राज्यादि सभी का राग छूट ही जाता है; किन्तु किसी सम्य-ग्दृष्टि के उस प्रकार का राग होना अवश्य है। कदाचित् युद्ध इत्यादि का प्रसंग आजावे, तथापि उस समय भी वे अभि-प्राय में तो राग से भिन्नरूप चैतन्यस्वभाव में ही परिणमन करते हैं, राग के अंश को भी अपने कर्तव्यरूप से स्वीकार नहीं करते, उसका अन्तर में आदर नहीं करते—ऐसी दशा उनके सदैव प्रवर्तमान होने से उनका राग-द्वेष बिलकुल अल्प ही होता है—ऐसा समझना चाहिये। अज्ञानी जीव परवस्तु के संयोग-वियोग के कारण राग-द्वेष मानते हैं; देव-गुरु-शास्त्र पर आपत्ति हो तब राग-द्वेष करना ही चाहिये—इत्यादि प्रकार से वे राग-द्वेष को कर्तव्य मानते हैं और राग-द्वेष में ही एकाकार रूप से वर्तन करते हैं, इनसे उनके सदैव अनन्त राग-द्वेष है। अपने स्वभाव का राग-द्वेष से वे किंचित् भिन्नत्व नहीं समझते।

(६०) ज्ञानी के वीतरागता की ओर अज्ञानी के राग की भावना है।

जिसने किसी भी संयोग से राग माना है, उसके यदि

वैसा संयोग न हो तो भी उस समय 'यदि इस इस समय ऐसा संयोग आ जाये तो मुझे राग हो'–ऐसे अभिप्राय से वह राग का सेवन कर ही रहा है; यदि इसी क्षण ऐसा संयोग आये तो राग मेरा कर्तव्य ही है–ऐसा वह मानता है, अर्थात् उसे निरन्तर संयोगदृष्टि से राग की ही भावना है, किन्तु स्वभावदृष्टि या वीतरागता की भावना नहीं है। ज्ञानीके स्वभाव-दृष्टि से वीतरागता की ही भावना है कि चाहे जैसे प्रतिकूल संयोग के समय भी अपने ज्ञानस्वभाव में एकाग्र रहकर वीत-राग हो जाऊँ–यही मेरा कर्तव्य है। शासन के लिये भी मुझे राग करने योग्य नहीं है। इसप्रकार ज्ञानी के निरन्तर स्वभाव की भावना प्रवर्तमान रहती है; और उससे राग दूर होकर वीतरागता होती जाती है।

(६१) अज्ञानी जीव निमित्त के आग्रह से कषाय को लंबाते हैं, और ज्ञानी जीव स्वभाव की भावना से कषाय को नष्ट कर देते हैं।

अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि–परवस्तु के कारण अपने को कषाय होती है, अर्थात् उसे निमित्त का आग्रह है कि अमुक निमित्त मिलें तभी मेरी कषाय शान्त हो, जब तक विचारा हुआ संयोग नहीं मिलेगा तब तक कषाय शान्त नहीं होगी। अज्ञानी की ऐसी पराधीन मान्यता है। अपने को जिस प्रयोजन से कषाय हुई है उस प्रयोजन की सिद्धि हो तभी कषाय दूर हो—ऐसा मानकर अज्ञानी जीव परवस्तु में फेरफार

करने को कषाय दूर करने का उपाय समझते हैं। अब, "पर-वस्तुओं का परिणमन तो अपने आधीन नहीं है"—इससे कषाय को टालने के अज्ञानी के सभी उपाय मिथ्या हैं। ज्ञानी जीव को पर से भिन्न स्वभाव का भान है और परवस्तु के कारर वे कषाय नहीं मानते, इससे उनके किन्हीं भी निमित्तों का ऐसा आग्रह नहीं है कि अमुक निमित्त मिलें तभी मेरी कषाय दूर हो। मेरी अवस्था के कारण मुझे कषाय हुई है और उसे दूर करने के लिये मैं ही स्वतंत्र हूँ।—ऐसा होने से अज्ञानी के जब किसी वस्तु के लक्ष्य से कषाय होती है तब, जब-तक परद्रव्य में उसकी इच्छानुसार कार्य न बने तब तक मेरी कषाय दूर नहीं होगी—ऐसी भावना है। ज्ञानी के ऐसी भावना है कि जिस परवस्तु के लक्ष्य से मुझे राग हुआ है, उस वस्तु का संयोग हो या न हो, किन्तु मैं अपने स्वभाव की भावना से चाहे जिस समय उस राग का नाश कर सकता हूँ। ज्ञानी के जिस वस्तु के लक्ष्य से विकल्प उठा है, उस वस्तु का संयोग न हो तब भी स्वभाव के लक्ष्य द्वारा उस राग को तोड़ देते हैं। या तो ज्ञानी स्वभाव की भावना द्वारा विकल्प तोड़कर निर्विकल्प होते हैं, और यदि वैसा न हो सके तो उस समय निमित्त की ओर के विकल्पों को छोड़कर 'मैं ज्ञायकभावस्वरूप हूं'—इत्यादि विकल्प से स्वसन्मुख भावना भाते हैं, किन्तु परद्रव्य या राग की भावना कभी नहीं करते; इससे ज्ञानियों के स्वभाव की ओर का अवकाश रहकर रागादि होते हैं; राग के समय भी राग से भिन्न स्वभाव की भावना को स्थिर रखते हैं। अज्ञानी तो पर के कारण से राग-द्वेष

मानते हैं और उन्हें दूर करने का साधन भी पर को ही मानते हैं, अर्थात् उन्हें राग के समय स्वभाव की ओर का अवकाश नहीं रहता। राग के समय राग से भिन्न स्वभाव की भावना उनके नहीं होती, किन्तु परद्रव्य की भावना होती है इसलिये परद्रव्यों के लक्ष्य से उनके अनेक प्रकार से परिवर्तित होकर राग होता ही रहता है, किन्तु स्वभाव का लक्ष्य न होने से कभी भी राग का अभाव नहीं होता। ज्ञानी को राग के समय ही स्वभाव की भावना होने से वे स्वभाव की एकाग्रता द्वारा अल्पकाल में राग को नष्ट कर देते हैं।

(६२) यथार्थ जीवन-मरण

अज्ञानी जीव राग-द्वेष के समय उसमें एकत्वबुद्धि के द्वारा अपने शुद्ध स्वभाव का घात कर देते हैं, और ज्ञानी जीव राग-द्वेष के समय भी अपने भिन्न स्वभाव की प्रतीति द्वारा अपने को जीवित रखते हैं। यह ज्ञानी-अज्ञानी के अन्तर-परिणमन का महान् अन्तर है; यह वाह्य क्रियाओं से नहीं पहिचाना जा सकता। यह सम्यग्ज्ञान का विषय है; सम्यग्ज्ञान ही चैतन्य की मुक्ति की कला है। इसलिये भव्य जीवों को संसार-दुःख दूर करके मोक्षसुख प्रगट करने के लिये सम्यग्ज्ञानादि साधन करने योग्य हैं!

(६३) आहारदान में क्या प्रयोजन है?

प्रश्नः—मुनि को आहारदान देने का क्या हेतु है?

उत्तरः—स्वभाव के ओर की दृष्टिपूर्वक वीतरागता की भावना सहित जो राग दूर हुआ वह हेतु है; किन्तु आहारादि परवस्तुको

लेने-देने का हेतु नहीं है उसी प्रकार आहारदान करने का जो शुभराग होता है वह राग करने का भी हेतु नहीं है। संत मुनिराज पुण्य-पापरहित और शरीर, आहारादि रहित— ऐसे वीतरागी आत्मस्वरूप की साधना कर रहे हैं, उन साधक मुनि के स्वरूप की पहिचान और साध्यरूप शुद्धात्मा की प्रतीति करना चाहिये। तथा अपनी स्वभावदृष्टिपूर्वक वीतरागता की भावना करने से बीच में जो राग आजाता है उससे आहारदान की शुभवृत्ति उठती है, और वहाँ बाह्य में निमित्तरूप संत–मुनि की उपस्थिति एवं आहारादि की क्रिया होती है; और कभी कभी बाह्य का वैसा संयोग नहीं भी होता। बाह्य संयोगों की क्रिया का, निमित्त का अथवा राग का प्रयोजन नहीं है, किन्तु अपने स्वभाव के ओर की दृष्टिपूर्वक जितना राग दूर हुआ उतना प्रयोजन है। जो राग होता है वह तो छोड़ने योग्य है।

आहारदान की क्रिया या भक्ति, स्वाध्याय या तपादि सभी में मूल प्रयोजन तो स्वभावदृष्टिपूर्वक वीतरागभाव करना ही है; और इस एक प्रयोजन के अर्थ से बाह्य में भिन्न भिन्न अनेक प्रकार के निमित्त होते हैं। वहाँ निमित्त की ओर उसके लक्ष्य से होने वाले शुभराग की उपादेयता नहीं किन्तु वीतरागी दृष्टि और वीतरागी स्थिरता ही उपादेय है। ज्ञानी जानते हैं कि आहारादि पर वस्तुएँ मुझसे भिन्न हैं, मुनि भी मुझसे पर हैं और जो शुभवृत्ति उठी वह भी मेरा स्वरूप नहीं है; यह कोई मुझे कल्याण के कारण नहीं हैं; किन्तु मैं शुद्ध चैतन्यस्वभावी हूँ, उसकी भावना और एकाग्रता करके जितना

वीतरागभाव प्रगट हो उतना ही कल्याण है। राग या निमित्त कोई भी मुक्ति का कारण नहीं है किन्तु स्वभावदृष्टि का फल और स्वरूपस्थिरता ही मुक्ति का कारण है।

कोई ऐसा माने कि भगवान को छद्मस्थ दशा में खीर का आहारदान देने से उसके फल में जीव का परंपरा से मोक्ष हो गया; तो उसकी बात बिलकुल मिथ्या है। खीर का मूल्य क्या है? क्या खीर के द्वारा धर्म का मूल्य होता है? प्रथम तो जड़ के देने-लेने की क्रिया ही आत्मा से नहीं हो सकती, और उसमें जो शुभभाव हुआ हो वह भी मोक्ष का कारण नहीं है; किन्तु सम्यग्दर्शनपूर्वक जो वीतरागभाव है—वही मोक्ष का कारण है। इसके बिना लाखों बार खीर का आहार-दान करे तो भी मोक्ष नहीं होसकता।

ज्ञानी श्रावक और संत—मुनि का योग मिले और उन्हें आहारदान देने की वृत्ति हो, किन्तु कदाचित् आहारदान का योग अपने यहाँ न बने; तो वहां वे एकाकाररूप से अन्तर में खेद नहीं करते; किन्तु ऐसे सम्यक्-अभिप्राय से समाधान करते है कि—मैंने अपनी भावना के द्वारा जितना राग दूर किया उतना ही मुझे फल है, बाह्य क्रिया का योग नहीं बना—वह ऐसा ही होना था। बाह्य क्रिया नहीं बनी उससे मेरी भावना का फल कहीं दूर नहीं होगया। और अपनी भावना में इसप्रकार वृद्धि करते हैं कि अहो! यह अशरीरी सिद्ध-दशा के परम साधक धर्मात्मा मुनिदेव पधारे, किन्तु मेरे यहां आहार का योग बनने योग्य नहीं था इससे नहीं बना! ऐसी शुभवृत्ति उठे उसका भी दृष्टि के बल से निषेध करते हैं।

अरे ! मुनि के आहार का योग नहीं बना किन्तु मुनि तो निस्पृह हैं, अमुक गृह में आहार लेना—ऐसा कोई प्रतिबन्ध उनके नहीं है, क्षणमात्र में आहार की वृत्ति को तोड़कर स्वरूपानुभव में लीन हो जाते हैं; मैं भी इस विकल्प को तोड़कर अप्रमत्तदशा प्रगट करके स्वरूप में लीन हो जाऊँ तो उसमें मेरे केवलज्ञानभगवान का आदर होता है—यही मेरा कर्त्तव्य है। इसप्रकार ज्ञानी के समाधान वर्तता है और सर्व प्रसंग में वीतरागता की ही वृद्धि होती है। अज्ञानी को वैसे प्रसंग पर समाधान नहीं होता, किन्तु बाह्य में क्रिया हो तभी वह सन्तोष मानता है, क्योंकि अपने स्वभाव की ओर उसका लक्ष्य नहीं है किन्तु निमित्त और राग पर लक्ष्य है।

(६८) लोभ, भय, जुगुप्सा और कामेच्छा को दूर करने का उपाय

मैं त्रैकालिक परिपूर्ण स्वरूप हूँ—ऐसी श्रद्धापूर्वक चिंतवन वह लोभ को दूर करने का उपाय है, किन्तु पर वस्तु को प्राप्त करने का प्रयत्न करना-वह लोभ को नष्ट करने का उपाय नहीं है, किन्तु उससे तो लोभ में वृद्धि होती है। जब जीव को भय उत्पन्न होता है तब अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि 'प्रतिकूल संयोगों को दूर करूँ तो भय नष्ट हो जाये;' किन्तु वह मिथ्या मान्यता है। अपने निर्भय आत्मपद की शरण लेना ही भय को दूर करने का उपाय है। अपने निर्भय स्वरूप की प्रतीति के बिना किसकी शरण लेकर भय को नष्ट करेगा ? मैं त्रिकाल सत्स्वरूप हूँ, कभी किसी प्रसंग पर मेरा

विनाश नहीं है, मेरा आत्मपद सभी विपदाओं का अपद है, इससे मैं स्वयं निर्भय हूं;–ऐसी दृष्टि जिसके है वही जीव वास्तव में निर्भय है। जुगुप्साभाव हो, उस समय अज्ञानी जीव परवस्तु को अनिष्ट मानकर उसे दूर करना चाहता है, क्योंकि वह उसी को जुगुप्सा दूर करने का उपाय मानता है, किन्तु वह उपाय मिथ्या है। कोई परवस्तु मुझे इष्ट-अनिष्ट नहीं है, सभी वस्तुएँ अपने-अपने भाव में परिणमन करती हैं, मेरा परमपारिणामिक स्वभाव परम आनन्दस्वरूप है, वही मुझे परम इष्ट है;—इसप्रकार स्वभाव के लक्ष्य से वैराग्यभावना की वृद्धि करना ही जुगुप्सा टालने का उपाय है। जब कामवासना उत्पन्न होती है तब अज्ञानी विषय सेवन करके कामवासना को दूर करना चाहता है; किन्तु वह उपाय मिथ्या है। मैं अशरीरी स्वरूप हूँ, शरीर के साथ का संबंध अथवा उसके लक्ष्य से उत्पन्न होने वाली वृत्ति मेरा स्वरूप नहीं है; इसप्रकार अपने अशरीरी स्वभाव का चिन्तवन ही कामवासना को नाश करने का उपाय है। जिस प्रकार अग्नि में ईंधन डालने से वह शांत नहीं होती किन्तु उल्टी बढ़ती है, उसीप्रकार विषय भोगने से कामाग्नि शांत नहीं होती किन्तु बढ़ती है। परन्तु अपने चैतन्यस्वभाव के चिंतवन के बल से विषयों का लक्ष्य छूटकर कामेच्छा का अभाव होता है।

(६५) कषाय सीमित कब होती है ?

अज्ञानी के कषाय के निमित्त परिवर्तित होते हैं, किन्तु कषाय तो अभिप्राय में ज्यों की त्यों—असीम रहती है। यदि

कषायों में कार्य का कुछ प्रमाण हो तो उस कार्य की सिद्धि होने से जीव सुखी हो, किन्तु अज्ञानी की कषाय में कार्य का तो कोई प्रमाण है नहीं, मात्र इच्छा ही बढ़ती जाती है। यदि कषायरहित स्वरूप को जाने तो कषाय सीमित हो जाये। 'मेरे चैतन्यस्वरूप में क्रोध का अंश भी नहीं है, रागादि कषाय का अंश भी मुझमें नहीं है'—ऐसे अपने अकषायी चैतन्य-स्वरूप की दृष्टि में ज्ञानी जीव कषाय का बिलकुल अभाव मानते हैं, इससे उनके तो अस्थिरता की कषाय की सीमा है। दृष्टि की अपेक्षा से तो ज्ञानी के कषाय होती ही नहीं, ज्ञान की अपेक्षा से कषाय ज्ञेय है, अर्थात् कषाय को कषायरूप से जानकर ज्ञान उसका निषेध करता है कि—'यह मेरा स्वरूप नहीं है,' और चारित्र की अपेक्षा से कषाय की सीमा है। दृष्टि में कषाय का नितान्त अस्वीकार हुए बिना यथार्थ ज्ञान या कषाय की मर्यादा नहीं हो सकती।

(६६) इच्छा दुःख को दूर करने का उपाय नहीं है, किन्तु सम्यग्ज्ञान ही उसका उपाय है।

आत्मानुशासन में कहा है कि—जगत में अनन्तानन्त जीव हैं, उन सबमें आशारूपी महान् गड्ढा विद्यमान है। प्रत्येक जीव में आशारूपी गड्ढा इतना महान् है कि यह समस्त लोक उसमें अणु के समान है। लोक एक ही है और जीव अनन्तानन्त हैं तो किन-किन जीवों के हिस्से में कितना-कितना आये? इसलिये विषय की इच्छा ही व्यर्थ है। विषय-ग्रहण की

इच्छा तो कभी शांत ही नहीं होती। कोई एक इच्छित कार्य हो वहाँ उसी समय दूसरे प्रकार की इच्छा होती ही रहती है। समस्त लोक किसी को मिल नहीं सकता, इसलिये इच्छा दुःख को दूर करने का उपाय नहीं है किन्तु "सम्पूर्ण लोक का ज्ञान प्रत्येक जीव को हो सकता है, इसलिये ज्ञान ही दुःख मिटाने का उपाय है।"

अब, यदि परलक्ष्य से समस्त लोक को जानना चाहे तो नहीं जान सकता, किन्तु अपने स्वभाव की श्रद्धापूर्वक एकाग्रता करे तो ज्ञान का विकास होकर केवलज्ञान प्रगट हो और इच्छा तथा दुःख का विनाश हो। इसलिये समस्त लोक के सभी परद्रव्यों में अपनत्व को छोड़कर, 'मैं परिपूर्ण ज्ञान-स्वरूप हूँ'–ऐसी स्वभावदृष्टि और स्थिरता करके समस्त लोक का ज्ञाता बन जा। इच्छा रखकर समस्त लोक को नहीं जान सकेगा किन्तु इच्छा को नष्ट करने से समस्त लोक का ज्ञान हो सकता है।

(६७) अनन्त भव का मूल और उसके विनाश का कारण।

अनन्तभव के अभाव का कारण वस्तुदृष्टि है और अनंत भव के सद्भाव का कारण विपरीत अभिप्राय है; अर्थात् जैसा वस्तुस्वभाव है वैसी ही मान्यता करना सो सम्यग्दर्शन है और वही अनन्त भव के विनाश का कारण है। तथा जैसा वस्तुस्वभाव है उससे विपरीत मान्यता करना सो मिथ्यादर्शन है और वही अनन्त भव का मूल है। स्वभावदृष्टि होने के

पश्चात् उस दृष्टि के मंथन के बल से ही वीतरागता होती है। प्रथम सम्यग्दर्शन-ज्ञान द्वारा यदि पदार्थ के वास्तविक स्वरूप का श्रद्धान और ज्ञान हो तो परपदार्थों में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि होना मिट जाये तथा उसी श्रद्धा-ज्ञान के बल से चारित्र-मोह नष्ट होता जाये;—ऐसा होने से क्रमशः कषाय का अभाव हो तब कषायजन्य दुःख दूर हो और पश्चात् इच्छाएँ भी मिट जायें, अर्थात् निराकुल होने से जीव महान् सुखी हो। इसलिये सम्यग्दर्शनादिक ही दुःख को दूर करने का उपाय है।

(६८) सुख कहां है और वह कैसे प्रगट होता है?

पर वस्तु में आत्मा का सुख नहीं है, तथापि अज्ञानी जीव पर वस्तु में सुख मानकर उसे व्यवस्थित रखना चाहता है। किन्तु पर वस्तु की स्थिति उसके आधीन नहीं है। और यदि पर वस्तु में जीव का सुख हो तो उसकी उपस्थिति में उसे दुःख नहीं हो सकेगा। क्योंकि जिस वस्तु में सुख हो उसके अस्तित्व में दुःख हो ही नहीं सकता। अज्ञानी ने धन, शरीर इत्यादि जिन-जिन वस्तुओं में सुख माना है; उन-उन वस्तुओं की उपस्थिति में भी वह प्रत्यक्ष दुःखी होता दिखाई देता है; इसलिये पर वस्तु में सुख नहीं है, किन्तु पर से भिन्न अपना आत्मस्वभाव सुखरूप है उसकी श्रद्धा करके उसमें जितना एकाग्र हो उतना ही यथार्थ सुख का प्रगट अनुभव होता है। ऐसा जानकर हे जीव! तू अपने आत्मस्वभाव की रक्षा कर!

(६९) ज्ञानी के समाधि और अज्ञानी के मूर्च्छा तथा उसके कारण

अज्ञानी की दृष्टि सामान्यरूप से पर के ही ऊपर है, उसे आत्मस्वभाव की जागृति किंचित् भी नहीं है, इसलिये मरते समय उसके अन्तर में मूर्च्छा आ जाती है। भले ही वाह्य में वह अन्तिम समय तक बोलता रहे, तथापि अन्तरंग में उसे मूढ़ता हो जाती है। और ज्ञानी की दृष्टि सामान्यरूप ध्रुव-स्वभाव पर ही है, जीवन में प्रतिक्षण चैतन्य की जागृति प्रवर्तमान रहती है, इसलिये मरण के समय भी उसके अन्तर में समाधि ही होती है।

जीवनभर जिस प्रकार का सेवन किया हो वैसा ही परिणाम आता है। जिसने अज्ञान का सेवन किया है, उस अज्ञानी के जीवन के अन्त में मूर्च्छा आती है और ज्ञानी के आत्मसमाधि होती है। सामान्यरूप से अज्ञानी के तो सदैव मूर्च्छा ही है और ज्ञानी को दृष्टि में सदैव समाधि ही है, और जीवन के अन्त समय में वह विशेषरूप से प्रगट दिखाई देती है।

ज्ञानी की दृष्टि असंयोगी आत्मस्वभाव के ऊपर है; कषाय की मन्दतारूप पुण्यपरिणामों पर भी उसकी दृष्टि नहीं है, तथा वाह्य पदार्थों के संयोग-वियोग पर भी उसकी दृष्टि नहीं है। दृष्टि तो परिपूर्ण शुद्धस्वभाव पर है; इसलिये निमित्त के कारण आकुलता नहीं मानते तथा अस्थिरता का क्षणिक राग-द्वेष हो जाये तो भी उनको स्वरूप में भ्रम नहीं पड़ता; पुरुषार्थ

की अशक्ति के कारण जो अल्प आकुलता है उसका भी दृष्टि में स्वीकार नहीं है।

अज्ञानियों की दृष्टि अपने स्वभाव पर न होने से उनकी दृष्टि पर वस्तु के संयोग-वियोग पर और विकारीभाव पर ही है, इससे वे निमित्तों के कारण आकुलता मानते हैं और विकारी परिणाम से उनको स्वभाव में भ्रम बना ही रहता है; इसलिए उनको निरन्तर आकुलता-व्याकुलता ही रहती है, और उनकी आकुलता विकार में और पर में एकत्वबुद्धिपूर्वक होने से अनन्त है, किन्तु ज्ञान का विकास अल्प है। जितना ज्ञान का विकास है वह दुःख का कारण नहीं है, और पर पदार्थ भी दुःख का कारण नहीं है, किन्तु स्वभाव से च्युत होकर संयोग के लक्ष्य से स्वयं जो संयोगीभाव करता है वही दुःख का कारण है। स्वभाव दुःख का कारण नहीं है, संयोगी पदार्थ दुःख का कारण नहीं है, किन्तु संयोगीभाव दुःख का कारण है और असंयोगी स्वभावभाव सुख का कारण है।

(७०) सुखी होने का सच्चा उपाय स्व-पर का भेदज्ञान है

स्व-पर के भेदज्ञानपूर्वक समस्त वस्तुओं का सामान्य ज्ञान कर लेना चाहिये; किन्तु अज्ञानी जीव मात्र ज्ञान करने के बदले ज्ञान के साथ "यह पदार्थ मुझे सुखदायक है और यह दुःखदायक है"—इत्यादि प्रकार से विपरीत मान्यतासहित जानते हैं इससे उनका ज्ञान मिथ्या होता है। सामग्री के संयोग-वियोग के अनुसार सुख-दुःख नहीं हैं किन्तु जीव मात्र

मोह से उनमें सुख-दुःख की कल्पना करता है। पर सामग्री में माने हुए सुख-दुःख मोहजन्य ही हैं। इसीलिये ग्रंथकार यहाँ कहते हैं कि तू सामग्री को दूर करके या उसे स्थायी रखकर दुःख मिटाने या सुखी होने की इच्छा करता है, किन्तु यह सभी उपाय मिथ्या हैं। सच्चा उपाय तो यह है कि सम्यग्दर्शनादिक से स्व-पर का भेदविज्ञान होने से भ्रम दूर हो जाये तो सामग्री से अपने को सुख-दुःख न मानकर अपने परिणामों से ही सुख-दुःख भासित हो, और उससे स्व-पर के यथार्थ विचार के अभ्यास द्वारा जिस प्रकार अपने परिणाम सुधरें वैसा साधन करे। इन सम्यग्दर्शनादिक की भावना से ही मोह मन्द होने पर ऐसी दशा हो जाती है कि अनेक कारण मिलने पर भी उनमें अपने को सुख-दुःख भासित ही न हों, और एक शान्तदशारूप निराकुल होकर यथार्थ सुख का अनुभव करे; वैसा होने पर सर्व दुःख मिटकर जीव सुखी हो। इसलिये यही सम्यक् सुखी होने का सच्चा उपाय है।

(७१) यथार्थ दृष्टि और विपरीत दृष्टि का आधार तथा उसका फल

यथार्थ दृष्टि का आधार आत्मा है और उसका फल शुद्ध सिद्धदशा है; विपरीत दृष्टि का आधार एक समय की पर्याय का विकार है और उसका फल संसार में एकेन्द्रियदशा है। इस संसाररूपी रथ के मिथ्यात्वरूपी धुरी है और पुण्य-पापरूपी दो चक्र हैं।

(७२) पुण्य-पाप अकेले नहीं होते, धर्म अकेला होता है

चाहे जैसा तीव्र से तीव्र अशुभ परिणाम करे तथापि उस समय जो पापबन्ध होता है, उसी के साथ अमुक पुण्य-बन्ध भी होता ही है; उसी प्रकार चाहे जैसा शुभ परिणाम करे तथापि उस समय जो पुण्यबन्ध होता है, उसी के साथ अमुक पापबन्ध होता ही है। पुण्य-पापरहित मात्र शुद्धभाव हो सकता है, किन्तु अकेला पुण्य या अकेला पाप किसी जीव के नहीं हो सकता। पुण्य-पाप दोनों साथ ही होते हैं। यदि मात्र पुण्य हो जाये तो संसार ही नहीं हो सकता, और मात्र पाप ही हो जाये तो चैतन्य का ही सर्वथा लोप हो जाये, अर्थात् आत्मा का ही विनाश हो जाये।

निगोद के जीव को भी अमुक मन्द कषाय तो होती ही है। उसके जो चैतन्य का विकास है वह मन्द कषाय का फल है। यदि मन्दकषायरूप पुण्य सर्वथा न हो (एकान्त पाप ही हो) तो चैतन्यत्व नहीं रह सकता। और वर्तमान में चैतन्य का जितना विकास है वह बन्ध का कारण नहीं होता। हिंसा करते समय भी कसाई को अल्प-अल्प पुण्यबन्ध होता है। हिंसाभाव पुण्यबन्ध का कारण नहीं है, किन्तु उसी समय चैतन्य का अस्तित्व है—ज्ञान का अंश उस समय भी रहता है, इससे सर्वथा पाप में युक्तता नहीं होती।

आत्मा का शुद्ध स्वरूप एक अभंग है और संसार का (विकार का) स्वरूप ही अनेक भंग वाला है। विकार एकरूप नहीं होता; शुभ या अशुभ चाहे जो विकारभाव हो वह मोह-

रूप भाव है, उससे पुण्य-पाप दोनों की प्रकृति और स्थिति बँधती है। चैतन्य अखण्ड-एकरूप है, उसकी शुद्धता में द्विरूपता नहीं है, किन्तु एक ही प्रकार है, और अशुद्धता में द्विरूपता होती है। आत्मा की शुद्धतारूप धर्म पुण्य-पाप के बिना—अकेला रह सकता है।

(७३) दुःख के कारणरूप चार प्रकार की इच्छा और उसे दूर करने का उपाय

दुःख का लक्षण आकुलता है, और आकुलता इच्छा होने से होती है। अपने निराकुल आत्मस्वरूप को जाने बिना जीव को चार प्रकार की इच्छा होती रहती है:—

(१) परविषयों के ग्रहण की इच्छा होती है; अर्थात् उन्हें देखना-जानना चाहता है, किन्तु स्वभाव को जानने-देखने की भावना नहीं करता। वर्ण देखने की, राग सुनने की तथा अव्यक्त पदार्थों को जानने आदि की इच्छा होती है और जब तक उन्हें देख—जान न ले, तब तक वह महा व्याकुल होता है। अपने आत्मस्वरूप को ज्ञान का विषय करके उसी को जानने के बदले परवस्तु को जानने—देखने की इच्छा करता है—उसका नाम विषय है।

(२) अपने शान्त चैतन्यस्वरूप में क्रोधादिक नहीं हैं; उस स्वरूप का अनुभव नहीं किया; इसलिये परलक्ष्य से क्रोध—मानादि होने से दूसरों को नीचा दिखाने की, किसी का बुरा करने की, परवस्तु को प्राप्त करने की इच्छा होती है, और

जब तक वैसा कार्य नहीं होता तब तक वह अत्यन्त व्याकुल रहता है;–इसे कषाय कहते हैं।

(३) अपने असंयोगी स्वभाव का लक्ष्य नहीं किया अर्थात् संयोगों के ऊपर ही लक्ष्य गया; वहाँ पूर्व पापों के कारण आये हुए रोग, क्षुधा इत्यादि प्रतिकूल संयोगों को दुःख का कारण मानकर उन्हें दूर करना चाहता है और उसके लिये आकुल-व्याकुल होता है। इस इच्छा का नाम पाप का उदय है।
(४) अपने निराकुल, निर्विकार स्वभाव के अनुभव से च्युत होकर, जिस संयोग को अनुकूल मानता है उसे एक ही साथ भोग लेने की इच्छा करता है। इस इच्छा का नाम पुण्य का उदय है, क्योंकि उसका लक्ष्य वर्तमान में पुण्य के फल की ओर है। पुण्यफल को भोगने की जो इच्छा है वह तो पाप ही है।

यदि अपने स्वरूप के अनुभव में लीन हो तो केवलज्ञान होने से तीनकाल, तीनलोक के समस्त पदार्थों का ग्रहण ज्ञान में एक साथ हो; किन्तु अज्ञानी जीव अपने संयोगरहित स्वभाव को भूलकर संयोग को भोगना चाहता है। परन्तु पुण्य के फलरूप समस्त सामग्रियों को एकसाथ लक्ष्य में नहीं ले सकता, एक समय में थोड़े ही पदार्थों को लक्ष्य में ले सकता है; इसलिये प्रतिसमय नये–नये पदार्थों को जानने की, प्राप्त करने की, भोगने की इच्छा से आकुल-व्याकुल ही होता रहता है; एक समयमात्र भी निराकुल नहीं रहता। जब कुछ मन्दकषाय हो तब अज्ञानी जीव अपने को सुखी मानता है,

किन्तु उसे अपने रागरहित स्वरूप का अनुभव नहीं है और पदार्थों को भोगने की आकुलता है, इसलिये वह निरन्तर दुःखी ही है।

जबतक जीव अपने निराकुल स्वरूप को न जाने तबतक उसे उपरोक्त चारों प्रकार की इच्छाओं का निरन्तर सद्भाव होता है। वह इच्छाएँ क्यों होती हैं? उसे अपने सुखस्वरूप का निर्णय और वेदन नहीं है इससे उसको स्वरूप का संतोष नहीं है; किन्तु सदैव असंतोष बना रहता है; इसलिये वह पर वस्तु से सुख प्राप्त करने की इच्छा करता है। आत्मा तो ज्ञानानन्दस्वभावमय कृतकृत्य है; उसकी रुचि और प्रतीति करे तो पर द्रव्यों के ओर की इच्छा दूर हो जाये। किन्तु अपने ऐसे स्वभाव की रुचि, प्रतीति अथवा विश्वास न करे और पर विषयों के ग्रहण की रुचि करे—उस जीव की इच्छा कभी दूर नहीं होती; आत्मा के श्रद्धा–ज्ञान–चारित्र से च्युत होकर वह इच्छा में ही लीन होगया है—यही दुःख है।

(७४) दुःख दूर करने का उपाय कौन करेगा?

अज्ञानियों को अपना दुःख भासित नहीं होता, इससे यहाँ पर ग्रंथकर्ता संसार के दुःख को सिद्ध करते हैं। हे जीव! प्रथम तू निश्चित् कर कि तुझे दुःख है या नहीं? 'मुझे दुःख है'—ऐसा जो जीव जाने वह तो यह जानकर कि दुःख किन कारणों से है, उन कारणों को दूर करेगा, और सुख के कारण जानकर उसका उपाय करेगा। हे भाई! तू इस संसार में अनादि से दुःखी है, तुझे इच्छारूपी रोग लगा हुआ है

उससे तू रोगी है। यदि तुझे अपने दुःख का प्रतिभास हो और उससे छूटने की जिज्ञासा होती हो तो तू सद्गुरुरूपी वैद्य के पास जाकर उनसे ज्ञात कर कि मेरे रोग का क्या कारण है और उसे दूर करने का उपाय क्या है ?

(७५) दुःख का लक्षण

किसी भी इच्छा का होना ही दुःख है। यदि जीव वास्तव में सम्पूर्ण सुखी हो तो उसे इच्छा ही न हो। यदि जीव को सुख ही हो तो वह सुखदशा से छूटकर दूसरे की इच्छा किस-लिए करे ? जहाँ आत्मा के पूर्ण आनन्द का अनुभव होता हो, वहाँ पर की इच्छा ही क्यों हो ? इच्छा का होना ही यह बतलाता है कि वह जीव दुःख की भूमिका में विद्यमान है। यदि आत्मा का निराकुल आनन्द हो, तो आनन्द से छूटकर आकुलताजनित इच्छा होगी ही नहीं; इसलिये जिसके इच्छा है उस जीव के दुःख है—ऐसा समझना चाहिये।

आत्मा से भिन्न किसी भी अन्य वस्तु में आत्मा का सुख नहीं है, आत्मा पर वस्तु में सुख मानकर उसकी इच्छा करता है, उस इच्छा में भी सुख नहीं है; पुण्य की इच्छा भी दुःख-रूप है, पुण्यभाव स्वयं दुःखरूप है। जगत के जीव पुण्य की इच्छा को और उसके फलरूप सामग्री को सुखरूप मानते हैं, किन्तु वह भ्रम है। मोक्षसुख की इच्छा करना भी दुःखरूप है और वह भी मोक्ष को रोकने वाली है। यदि जीव को मोक्षसुख प्रगट हो तो उसे उसकी इच्छा ही न हो। जिनको मोक्षसुख प्रगट नहीं है किन्तु कुछ दुःख प्रवर्तमान है वे जीव

उससे मुक्त होकर मोक्षसुख प्रगट करने की इच्छा करते हैं। वह इच्छा भी आकुलतारूप होने से दुःख है।

(७६) ज्ञान और इच्छा

अपने वीतराग स्वरूप के लक्ष्य की एकाग्रता से च्युत होकर परलक्ष्य करे तभी इच्छा होती है; परलक्ष्य से इच्छा का विनाश कभी नहीं हो सकता। अपने स्वरूप की एकग्रता द्वारा समस्त इच्छाओं का निरोध एक ही साथ हो जाता है। किन्तु यदि परलक्ष्य में रुके तो पूर्ण ज्ञान नहीं होगा और इच्छाओं की उत्पत्ति हुए विना नहीं रहेगी; तथा वहाँ तो इच्छानुसार सभी कार्य एकसाथ हो ही नहीं सकते। इसलिये स्वरूप की श्रद्धा और एकाग्रता द्वारा इच्छा का निरोध करना सरल है, किन्तु पर विषयों को ग्रहण करने की इच्छानुसार कार्य नहीं हो सकता। यदि जीव अपने ज्ञायक स्वभाव में स्थिर होकर ज्ञान करे तो उसके ज्ञान के अनुसार सभी पदार्थों का परिणमन स्वयं हो; किन्तु जीव की इच्छानुसार समस्त पदार्थ कभी परिणमन नहीं करते; इससे निश्चित् हुआ कि ज्ञान करना जीव का स्वभाव है और इच्छा करना जीव का स्वभाव नहीं है।

(७७) इच्छाओं को दूर करने का उपाय भेदज्ञान

इच्छाओं का निरोध किसके आधार से हो सकता है? मैं ज्ञान-आनन्दस्वरूप आत्मा हूँ, सबको जानने का मेरा स्वभाव है, किन्तु इच्छा करना मेरा स्वरूप नहीं है;—इसप्रकार

अपने ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा और एकाग्रता के बल से इच्छा का अभाव हो जाता है। मात्र ज्ञानस्वभाव की अस्ति में इच्छा की नास्ति ही है–इसप्रकार प्रथम ज्ञान और इच्छा के भिन्नत्व की प्रतीति करके यदि ज्ञान की एकाग्रता करे तो इच्छा का नाश हो जाता है; किन्तु आत्मा को यथावत् जाने बिना–अधूरा रहने से इच्छा का निरोध नहीं हो सकता। जिसने इच्छारहित आत्मस्वभाव को नहीं जाना वह कहाँ एकाग्रता करके इच्छा को दूर करेगा ? कोई भी इच्छा वह दुःख ही है, और मेरे स्वभाव में अंशमात्र इच्छा नहीं है;—ऐसा निर्णय जबतक न हो तब तक जीव इच्छा को दूर ही क्यों करना चाहेगा ? यदि जीव को इच्छा में सुख मालूम हो तो वह इच्छा को अपना स्वरूप मानकर रखना चाहेगा; किन्तु यदि अपने स्वभाव को जान ले तो उसे भान हो कि इन इच्छाओं की उत्पत्ति मेरे स्वभाव में से नहीं होती और वे दुःखदायक हैं, इसलिये दूर करने योग्य हैं। जिन्हें ऐसा भेदज्ञान हो वे जीव स्वभाव के भान द्वारा इच्छा के नाश का उपाय करते हैं, किन्तु जिन्हें ऐसा भेदज्ञान नहीं है वे जीव संयोगों की ही भावना करते हैं, वे महा दुःखी हैं।

स्वभाव की भावना को छोड़कर परद्रव्य की भावना करना —वह इच्छा ही चौरासी के अवतार का मूल है, और इच्छारहित स्वभाव की भावना ही मुक्ति का मूल है। मेरा ज्ञान-इच्छारहित है;–ऐसा निर्णय करने से इच्छा अपंग हो है–इच्छा की भावना दूर हो जाती है। स्वभाव की

श्रद्धा करने पर उसी समय समस्त इच्छाओं का सर्वथा नाश नहीं हो जाता, किन्तु अभिप्राय में तो सभी इच्छाओं का निषेध हो जाता है, उस अभिप्राय के बल से अल्पकाल में इच्छा का सर्वथा क्षय हो जाता है। प्रथम ही इच्छा दूर नहीं होजाती किन्तु 'मेरा स्वरूप इच्छारहित है और इच्छा मुझे दुःख का कारण है'—ऐसी श्रद्धा करना चाहिये।

(७८) दुःख इच्छानुसार है, संयोगानुसार नहीं। इच्छा का मूल मिथ्यात्व है।

वर्तमान में जीव इच्छा करता है, इसलिये कार्य होता है—ऐसा नहीं हो सकता। संयोग-वियोगरूप कार्य होना हो वह तो स्वयं होता है, किन्तु जीव की इच्छा के कारण नहीं होता। इच्छित सामग्री प्राप्त होना, प्रतिकूलता का दूर होना और क्रोधादि से इच्छानुसार कार्य होना,—वह तो पूर्वपुण्य के निमित्त से होता है, और वैसी इच्छा का जो वर्तमान भाव है वह तो पाप है। अज्ञानी अधिकांश तो पापक्रियाओं में ही वर्तन करता है, पुण्यक्रियाओं में बहुत ही कम लगता है। इससे जिन सामग्रियों को भोगने की इच्छा को जगत सुख मानता है—वैसी सामग्रियों का संयोग किसी-किसी जीव को कभी होता है; तथापि किसी जीव को पुण्य के फलरूप अधिक सामग्री होने पर भी यदि उसे अधिक इच्छा हो तो वह अधिक दुःखी है, तथा किसी जीव को थोड़ी सी सामग्री होने पर भी यदि अल्प इच्छा हो तो वह कम दुःखी है; इसलिये सुखी-दुःखी होना इच्छा के अनुसार जानना चाहिये,

किन्तु बाह्य सामग्री के अनुसार नहीं। देवों को मन्द दुःख और नारकियों को अधिक दुःख कहा जाता है, वह संयोग की अपेक्षा से नहीं है; किन्तु देवों को मन्द इच्छा है और नारकियों को तीव्र इच्छा है—इसलिये वैसा कहा जाता है। देवों को सुखी मानना भ्रम है, क्योंकि अन्य सामग्रियों को भोगने की इच्छा से वे भी दुःखी हैं। यदि भक्ति की शुभ इच्छा हो तो वह भी दुःख है, उससे बन्धन होता है। इसप्रकार संसारी जीवों के मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयम से इच्छा होती है और इच्छा ही दुःख है; इसलिये मिथ्यात्व, अज्ञान तथा असंयमभाव ही दुःख के कारण सिद्ध हुए। उनमें सबसे महान् मूल कारण मिथ्यात्व है।

इसप्रकार संसारी जीवों को दुःख है—यह सिद्ध किया, और उस दुःख के कारण भी बतलाये।

(७२) सुख का उपाय रत्नत्रय है

अब, उस दुःख से मुक्त होने का उपाय बतलाते हैं। जिन जीवों को दुःख से छूटना हो उन्हें इच्छा को दूर करने का उपाय करना चाहिये; क्योंकि इच्छा से ही दुःख होता है। इच्छा तो उसी समय दूर हो सकती है जब मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयम का अभाव होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति हो; इसलिये इन सम्यग्दर्शनादि कार्यों का उद्यम करना ही योग्य है। इस साधन के द्वारा ही सच्चा सुख प्राप्त होता है। ज्यों-ज्यों सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में वृद्धि होती है, त्यों-त्यों इच्छा और दुःख दूर होते जाते हैं और सच्चा सुख प्रगट होता जाता है।

(८०) जीवों ने अनन्तकाल में कैसे भाव किये हैं?

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सुख के कारण हैं और वही धर्म है। धर्म तो आत्मा का स्वभाव है, इसलिये उस स्वभाव द्वारा पुण्य या पाप कुछ भी नहीं बँधते। धर्मभाव मुक्ति का कारण है बन्धन का नहीं। जिस भाव से कोई भी बन्धन हो वह धर्म भाव नहीं है। यदि पुण्यबन्ध हो तो वह भी विकार है धर्म नहीं। जीव ने अज्ञानता के कारण अनन्त भव में अनन्तवार पुण्य-पाप किये हैं, अनादि से यही करता रहा है, किन्तु पुण्य-पापरहित जो आत्मा का स्वभाव है उसका कभी एक क्षण भी निर्णय नहीं किया; एक क्षण भी पुण्य-पाप से भिन्न स्वभाव को नहीं जाना; उसे माना नहीं और उसका अनुभव एवं रुचि भी नहीं की। आत्मा के धर्म की जाति पुण्य-पाप से भिन्न है, उसे सम्यग्ज्ञानी ही जानते हैं और वे धर्मी हैं। इसप्रकार धर्मात्माओं का एक भिन्न-वर्ग समझना चाहिये।

दूसरा वर्ग—जो पुण्य-पाप में धर्म मानते हैं—ऐसे अधर्मियों का है। प्रथम धर्मी जीवों को पृथक् करके अब ग्रन्थकार अधर्मी जीवों में दो भाग करते हैं। पुण्य-पाप से भिन्न चैतन्य-स्वभाव की पहिचान तो नहीं की किन्तु पुण्य-पाप में भी मुख्यरूपसे जीव ने पाप ही किये हैं; पुण्य तो बहुत ही कम जीव कभी-कभी करते हैं। पाप में प्रवर्तन करने वाले जीव अधिक होते हैं किन्तु पुण्य में प्रवर्तन करने वाले कम होते हैं। विषय-ग्रहण आदि की इच्छा तो पाप ही है, पुण्य-बन्ध तो धर्मानु-राग से होता है। यद्यपि धर्मानुराग भी आत्मा का स्वभाव

नहीं है–धर्म नहीं है, किन्तु यहाँ पर तो ग्रन्थकार को इतना ही सिद्ध करना है कि–संसार में पापबन्ध को भोगने वाले जीव अधिक हैं और पुण्यबन्ध वाले कम हैं।

(८१) अज्ञानी दुःख को भी नहीं जानते!

अज्ञानी जीव आत्मस्वभाव को तो नहीं जानते, किन्तु यह भी नहीं जानते कि संसार में कैसा चल रहा है। अपने स्वरूप को भूलकर जीव पर पदार्थों की रुचि में ऐसा तल्लीन हो गया है कि–सत्य स्वरूप का विचार करने से वह प्रयोजन ही नहीं रखता। एकबार आत्मा का अभिप्राय रखकर, परपदार्थों की रुचि से हटकर विचार करे तो संसार के स्वरूप का सच्चा ख्याल आये। ज्ञानियों ने स्वभाव को जाना है और यह भी यथार्थ रूप से जाना है कि संसार के जीव किस-किस प्रकार से दुःखी होते हैं; स्वयं भी पहले अज्ञानदशा में उन दुःखों का अनुभव किया था और अब उस दुःखरहित स्वभाव का अनुभव किया है; इसलिये ज्ञानी ही संसार के दुःखों का, उनके कारणों का और उन्हें दूर करके सुखी होने के उपाय का यथार्थ रीति से वर्णन कर सकते हैं। अज्ञानियों को सुख का तो अनुभव नहीं है और दुःख को दुःखरूप से भी नहीं जाना है, इसलिये सुखी होने का और उसके उपाय का वर्णन भी उनका मिथ्या होता है।

(८२) पुण्य करने से भी चैतन्यधर्म की दुर्लभता

कई जीव तो पर विषय के ग्रहण में ही रुक जाते हैं, उनके तो पाप है; किंतु कोई पैसा आदि खर्च करे और वहाँ

अभिमान में चूर हो तो भी पाप है; पुण्य तो कषाय की मंदता से होता है। पुण्य के बहाने अभिमान करे तो वह पाप है। पुण्य धर्मानुराग से होता है; ऐसा पुण्यभाव किसी समय किसी जीव के होता है। इच्छानुसार सामग्री का संयोग और वर्तमान मन्दकषायरूप पुण्यपरिणाम तो किसी जीव के होते हैं, तथापि ऐसे जीव भी दुःखी हैं। हे जीव ! अनादि-संसार में तूने अपार पापप्रवृत्तियों का ही सेवन किया है, पुण्य के कारणों का बहुत कम सेवन किया, और पुण्य-पाप से पार आत्मा के चैतन्यधर्म की तो क्षणमात्र भी तूने दरकार नहीं की, एक क्षण भी चैतन्यधर्म का सेवन नहीं किया। पुण्य में सुख मान लिया किन्तु वह दुःख है। पुण्य के फलस्वरूप सामग्री का संयोग प्राप्त होता है, किन्तु उससे धर्म-सुख नहीं मिलता।

(८२) पाप और पुण्य के बीच विवेक, तथा पुण्य और धर्म की जाति का भिन्नत्व,

जितना दान करो उससे हजारगुना फल मिलेगा;-ऐसी भावना से जो दान करते हैं उन जीवों ने तो वर्तमान में ही हजारगुनी तृष्णा की वृद्धि करके पापबन्ध किया है; सामग्री की तृष्णा और राग को कम करे तो पुण्य हो, उसके बदले उन्होंने तो हजारगुनी सामग्री की भावना करके तृष्णा और राग को बढ़ाया है। वे अपने पूर्णस्वभाव को भूले हैं इससे संयोगों में पूर्णता की इच्छा करते हैं। यह मिलेगा और वह मिलेगा —इसप्रकार सभी संयोगों की भावना करते हैं, किन्तु 'अब नहीं चाहिये'-ऐसा कभी कहते ही नहीं। इस संसार में अज्ञानियों

की तृष्णा अपार है उसका कहीं भी अन्त नहीं है। जो हजार-गुना लेने की भावना से दानादि करे उसके तो पुण्यपरिणाम भी नहीं हैं। वर्तमान में अनुकूल सामग्री पूर्वपुण्य के कारण ही मिलती है; ऐसे पुण्यबन्ध के प्रसंगों में जीव बहुत ही कम प्रवर्तन करता है। जहाँ पुण्य-परिणामों का ही ठिकाना नहीं है वहाँ धर्म की तो दरकार ही कहाँ से होगी? इससे यह नहीं समझना चाहिये कि पुण्य का माहात्म्य बतलाते हैं। यद्यपि पाप की अपेक्षा पुण्यपरिणाम कम ही होते हैं, तथापि अनन्तवार पुण्य करके जीव उसके फलस्वरूप महान देव हुआ है, और वहाँ से पुण्य के फल को भोगने की रुचि के कारण फिर से पाप करके दुर्गतियों में परिभ्रमण किया है। तीर्थंकरभगवान के पुण्य की अनुमोदना करना; अर्थात् उनके पूर्वपुण्य के परिणामों को अच्छा मानना भी मिथ्यात्व ही है, तब फिर जिसे तुच्छ पुण्य की मिठास है उसकी तो बात ही क्या? तीर्थंकर के पुण्य भी राग से बँधे हैं, उस राग के कारण आत्मा के गुणों में भंग पड़ते हैं; जिसके उस राग की अनुमोदना है उसे आत्मा के वीतरागी गुणों की भावना नहीं है। आत्मस्वभाव की और पुण्य की जाति ही भिन्न है, इसलिये जिसे आत्मा की रुचि है उसे पुण्य की रुचि होती ही नहीं और जिसे पुण्य की रुचि है उसे आत्मा के सम्यग्दर्शनादि की रुचि नहीं होती—उसे मिथ्यात्व की रुचि होती है। जैसे—कोई सज्जन मनुष्य निर्धन हो, और कोई दुर्जन-अनार्य मनुष्य धनवान हो, वहाँ 'मैं अनार्य के यहाँ पुत्र होऊँ' ऐसी भावना

सज्जन मनुष्य के कभी होती ही नहीं। उसी प्रकार जिसे सज्जनरूपी आत्मस्वभाव की पहिचान और भावना हो उस जीव के ऐसी दुर्भावना कभी नहीं होती कि—"मैं पुण्य करूँ और उसके फल को भोगूँ," क्योंकि पुण्य तो विकार है, अनार्य है, आत्मस्वभाव की अपेक्षा से वह अस्पर्श्य है।

(८४) ज्ञानी समझाते हैं कि आत्माके स्वभावमें रागद्वेष नहीं हैं।

एकबार किसी मनुष्य के दाहिने पैर में फोड़ा हुआ; डाक्टर प्रतिदिन उसकी मरहम-पट्टी करने आता था। जब डाक्टर दाहिने पैर को छुए तब वह मनुष्य चिल्लाना प्रारम्भ कर दे! ऐसा करते-करते फोड़ा लगभग मिट गया; तथापि उसे चिल्लाने की आदत पड़ गई इसलिये चिल्लाता था। एकबार डाक्डर ने उस मनुष्य के बाएँ पैर को स्पर्श किया, तो भी वह चिल्लाया! तब डाक्टर ने कहा कि भाई! व्यर्थ ही क्यों रोता है, तेरे दाहिने पैर का फोड़ा बाएँ पैर में नहीं आ जायेगा, तुझे तो व्यर्थ रोने-चिल्लाने की आदत पड़ गई है। अपने को पीड़ा होती है या नहीं उसे जानने का अभिप्राय नहीं रखता किन्तु हाथ लगते ही दुःख मानकर रोने-पीटने की आदत पड़ गई है।

जिसप्रकार दाहिने पैर का फोड़ा बाएँ पैर में नहीं आता, वैसे ही पूर्व की पर्याय के राग-द्वेप वर्तमान पर्याय में नहीं आते। स्वयं वर्तमान में नये-नये राग-द्वेप करता रहता है। किन्तु यदि वर्तमान में ही स्वभाव के लक्ष्य से एकाग्र हो तो राग-द्वेप न हों। आत्मा के स्वभाव में राग-द्वेप नहीं हैं, परवस्तु राग-द्वेष नहीं कराती, और एक पर्याय के राग-द्वेष बढ़कर दूसरी पर्याय में नहीं आ जाते। किन्तु अज्ञानी को

रागरहित आत्मस्वभाव की दृष्टि न होने से वह ऐसा मान बैठा है कि पूर्व पर्याय के राग-द्वेष चले आ रहे हैं। उसकी ऐसी मान्यता के कारण उसका पुरुषार्थ राग-द्वेष में ही रुक गया है और वहीं उसे एकत्वबुद्धि हो गई है। उस एकत्व-बुद्धि को छुड़ाकर स्वभाव में अभेददृष्टि कराने के लिये ज्ञानी उसे समझाते हैं कि हे भाई! तेरे स्वभाव में राग-द्वेष नहीं हैं, और वर्तमान पर्याय में जो राग-द्वेष होते हैं उनका दूसरे समय में अभाव ही हो जाता है; तू व्यर्थ ही भ्रम में पड़कर राग-द्वेष को अपना स्वरूप मान रहा है। तू विचार कर कि यह रागादि परिणाम कितने अनित्य हैं? कोई भी वृत्ति स्थिर नहीं रहती, इसलिये ऐसा तेरा स्वरूप नहीं हो सकता। इस-प्रकार यदि तू अपने रागरहित चैतन्यस्वभाव का विश्वास कर तो तेरी पर्याय में से भी राग-द्वेष दूर होने लगेंगे। अपने स्वभाव के लक्ष्य से पर्याय में भी वीतरागता की ही उत्पत्ति होगी। इसलिये तू राग-द्वेषरहित शुद्ध; ज्ञायकस्वभाव की पहिचान और श्रद्धा कर; यही दुःखों को दूर करने का उपाय है। जीव ने कभी अपनी ओर देखने का अभिप्राय ही नहीं किया कि—यह राग-द्वेष नये नये होते हैं या सदैव वही के वही चले आते हैं? और यह राग-द्वेष स्वभाव में हैं या नहीं? राग-द्वेष अपने विपरीत पुरुषार्थ से नवीन-नवीन होते हैं, तथा वे स्वभाव में नहीं हैं—ऐसा निश्चित करके यदि स्वभाव की ओर उन्मुख हो तो राग से भिन्न स्वभाव कैसा है उसका

(५८) स्वभावदृष्टि से परिपूर्ण, निर्विकारी और असंयोगी; तथा पर्यायदृष्टि से अपूर्ण, विकार और संयोगी— उसमें किसके लक्ष्य से सुख प्रगट होता है ?

शरीर, मन, वाणी से भिन्न, कर्मों से भिन्न और परमार्थ से राग-द्वेषादि विकार भावों से भी भिन्न—ऐसा यह चैतन्य-स्वरूपी आत्मा ज्ञान–दर्शन–सुख–वीर्य–आनन्द इत्यादि अनन्त गुणों का एकरूप पिंड अनादि-अनन्त वस्तु है। 'मैं राग-द्वेषादि के साथ एकमेक हूँ, परपदार्थों के साथ मुझे कुछ सम्बन्ध है और मैं उनका कुछ कर सकता हूँ,–ऐसी परद्रव्य के अहंकार-रूप मिथ्यादृष्टि जीव की मूढ़ता है; वह मूढ़ता आत्मा की पर्याय है। यह क्षणिक, विकारीपर्याय संसार है–दुःख है।

'जीव' तो परिपूर्ण, निर्विकारी और असंयोगी है; किन्तु स्वयं अपने स्वभाव को भूला हुआ होने से उसके ज्ञान–दर्शन–वीर्य की अवस्था में अपूर्णता है, चारित्र-श्रद्धा आदि की अवस्था में विकार है और निमित्तरूप आठों कर्म तथा शरीरादि का संयोग है। एवं जीव अपने स्वभाव को भूलकर मात्र पर्याय-दृष्टि से अपने को अपूर्ण–विकारी और संयोगी ही मानकर पर्यायमूढ़ हो रहा है, तथापि स्वभाव तो उस समय भी पूर्ण, विकाररहित और असंयोगी है। स्वयं अपने को परि-पूर्ण, अविकारी तथा असंयोगी माने तो सुख प्रगट हो ? अथवा अपूर्ण, विकारी और संयोग वाला माने तो सुख प्रगट हो ? पर्याय में रागादि तो हैं; यदि उन रागादि जितना ही

अपने को माने तो उन रागादि विकारों का अभाव नहीं हो सकेगा; क्योंकि जिसके साथ एकता माने उसका विनाश नहीं कर सकता; किन्तु यदि स्वभाव की एकता द्वारा रागादि से भिनन्ता को जाने तो स्वभाव की एकाग्रता द्वारा उनका सर्वथा अभाव कर दे। इसलिये, अवस्था में विकार, अपूर्णता और संयोग होने पर भी उसका लक्ष्य और एकत्वबुद्धि छोड़कर अपना स्वभाव परिपूर्ण, अविकारी और असंयोगी है–उसकी रुचि करके वहाँ लीन हो तो अवस्था में पूर्णता, शुद्धता और असंयोगीपना प्रगट हो तथा अपूर्णता, अशुद्धता और संयोगीपना दूर हो; अर्थात् दुःख दूर हो और सुख प्रगट हो जाये।

मैं अपने स्वभाव से ही पूर्ण शुद्ध हूँ;–इसप्रकार स्व: को जानना सो निश्चयनय है और पर्याय में अपूर्णता, विकार है;–इसप्रकार पर्याय को जानना किन्तु उसको त्रैकालिक स्वरूप न मानना सो व्यवहारनय है। इन दोनों पक्षों को जानकर त्रैकालिक स्वभाव को मुख्य करके उसकी श्रद्धा करे कि "यही मैं हूँ" और वर्तमान पर्याय को गौण करके उसकी श्रद्धा को छोड़े कि "यह मैं नहीं हूँ"—यही सम्यग्दर्शन है। ऐसी श्रद्धा द्वारा ही अवस्था में से विकार दूर हो जाता है और सुख प्रगट होता है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है।

(८६) चैतन्य की शुद्धता किसे प्रगट होती है ?

जो अपने को जड़ का स्वामी माने, कर्ता माने या जड़ से लाभ–हानि माने वह जीव जड़ से भिन्न चैतन्यतत्त्व का कभी अनुभव नहीं कर सकता, और उसे चैतन्य की शुद्धि की प्राप्ति नहीं होती।

जो अपने को विकार का कर्ता माने, विकाररूप ही माने वह जीव भी विकाररहित शुद्ध चैतन्यतत्त्व का अनुभव नहीं कर सकेगा किन्तु विकार का ही अनुभव करेगा।

जो जीव अपने को चैतन्यतत्वरूप ही जाने, माने और अनुभव करे वह जीव जड़ को अपना नहीं मानता तथा विकार का अपनेरूप में अनुभव नहीं करता; किन्तु चैतन्यतत्त्व का जड़ से और विकार से भिन्नरूप अनुभव करता है; उस अनुभव के बल से उसके अशुद्धता का नाश होता है और शुद्धता प्रगट होती है।

(८७) पर का स्वामित्व सो संसार, और स्वभाव का स्वामित्व सो मोक्ष

जड़ का स्वामित्व संसार है और विकार का स्वामित्व भी संसार है; जिसे जड़ का स्वामित्व हो उसे विकार का स्वामित्व होता ही है, और जिसके विकार का स्वामित्व हो उसके जड़ का स्वामित्व होता ही है। स्वभाव का स्वामित्व तथा अंशतः एकता सो मोक्षमार्ग, और स्वभाव का स्वामित्व तथा पूर्ण एकता सो मोक्ष।

(८८) काल या बाह्य त्याग के आधार से धर्म का या पुण्य-पाप का माप नहीं है।

धर्म का अथवा पुण्य-पाप का माप काल के विस्तार से या बाह्य त्याग से नहीं है, किन्तु आत्मा के परिणामों से है। पूजा, भक्ति, स्वाध्याय इत्यादि में अधिक काल तक रहे

उसके पुण्यपरिणाम अधिक हैं और जो उसमें अल्प समय रहे उसके पुण्यपरिणाम कम हैं—ऐसा माप नहीं है। किन्तु शुभ प्रसंगों में अधिक काल तक रहे तथापि कषाय की विशेष मन्दता न करे तो उसके विशेष पुण्य नहीं है, और अल्प समय ही वैसे प्रसंगों में रहे तथापि अन्तर में कषाय की मन्दता अधिक करता हो तो उस जीव के विशेष पुण्य है। उसी प्रकार किसी के बाह्य में अधिकांश त्याग दिखाई देता हो तथापि पुण्यपरिणाम अल्प होते हैं और किसी के बाह्य में त्याग दिखलाई न देता हो तथापि पुण्यपरिणाम विशेष होते हैं। इसलिये बाह्य त्याग के ऊपर से उसका माप नहीं है। पुण्य की भाँति पाप का माप भी काल या संयोग के ऊपर से नहीं है किन्तु परिणामों से है। और धर्म का माप भी काल या त्याग से नहीं है। यह अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि जितने अंश में भूमिका में वृद्धि होती है उतने ही अंश में उस भूमिका के योग्य बाह्यत्याग भी सहजरूप से अवश्य होता ही है, (जैसे—सम्यग्दृष्टि के चौथी भूमिका में मांसाहार, मद्य, मधु, इत्यादि का त्याग; मुनिदशा में वस्त्रादि का त्याग।) किन्तु इस बाह्यत्याग से धर्म का माप नहीं है, क्योंकि ऐसा त्याग तो धर्मरहित जीव के भी हो सकता है। किसी जीव के बहुत समय से यथार्थ मुनिदशा प्रगट हो चुकी है और किसी दूसरे को कुछ ही समय पहले यथार्थ मुनिदशा हुई है, तो पहले जीव के अधिक शुद्धि होगी और दूसरे को उसकी अपेक्षा कम ही होगी—ऐसा कोई नियम नहीं

है। यदि बाद में मुनि हुआ जीव भी विशेष पुरुषार्थ द्वारा स्वभाव में लीनता करे तो वह बहुत समय पूर्व मुनि हुए जीव से पहले केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है। उपवासादि अधिक करे इससे शुद्धि का माप नहीं है किन्तु चैतन्यतत्त्व की अन्तर्लीनता पर से शुद्धि का माप है।

(८६) सुख-दुःख और उनके कारण

संसारदशा में मिथ्यादर्शनादि से जीव अनन्त दुःख भोग रहा है। प्रतिक्षण परपदार्थों के ओर की आकुलता होती है—वही दुःख है।

निराकुलता ही सुख का लक्षण है। सम्यग्दर्शन से अपने पूर्ण स्वभाव को जाने तो अभिप्राय में से, परपदार्थों में जो सुखबुद्धि है वह दूर हो जाये अर्थात् स्वभाव के लक्ष्य से उसे अंशतः अनाकुलता का अनुभव हो। सम्यग्दर्शन के बिना अंशतः भी वास्तविक अनाकुलता नहीं होती, अर्थात् सम्यग्दर्शन के बिना अंशतः भी सुख नहीं होता। इन सम्यग्दर्शनादि साधनों के द्वारा सिद्धपद प्राप्त करने से जीव के सर्व दुःखों का विनाश होता है, और सम्पूर्ण सुख प्रगट अनुभव में आता है।

(६०) ग्रन्थकार प्रेरणा करते हैं...

इसप्रकार इस तीसरे अध्याय में प्रथम तो यह सिद्ध किया कि संसारी जीवों को अनादिकाल से दुःख है, और उस दुःख के कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान एवं मिथ्या

चारित्र हैं–ऐसा बतलाया है। उन्हें दूर करने के लिये सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र प्रगट करना चाहिये; वही सुख का कारण है। इसप्रकार दुःख तथा उसके कारण और सुख तथा उसके कारणों का वर्णन करने के पश्चात् अधिकार को पूर्ण करते हुए ग्रन्थकार प्रेरणा करते हैं–उपदेश करते हैं कि—हे भव्य! यहाँ संसार के जो दुःख बतलाये हैं उनका अनुभव तुझे होता है या नहीं? दुःखों को दूर करने के लिये जो-जो प्रयत्न तू कर रहा है, उनकी निरर्थकता–असत्यता दर्शायी है वह वैसा ही है या नहीं? और सिद्धदशा प्राप्त होने पर ही पूर्ण सुख होता है—यह बात यथार्थ है या नहीं?–यह सब विचार और इसका निर्णय कर। यदि उपरोक्तानुसार ही तुझे प्रतीति होती हो तो संसार से मुक्त होकर सिद्धदशा प्राप्त करने के जो उपाय हमने बतलाये हैं वे कर। विलम्ब मत कर। इन उपायों से तेरा कल्याण ही होगा!

★

चौथा अध्याय

(६१) मंगलाचरण

भवनां सर्व दुःखो तणुं कारण मिथ्याभाव;
तेनी सत्ता नाश करे, प्रगटे मोक्ष उपाय।

भव के समस्त दुःखों का कारण मिथ्यात्वभाव है; आत्म-स्वरूप की यथार्थ प्रतीति द्वारा उस मिथ्यात्व की सत्ता का नाश करने से सम्यग्दर्शनरूप मोक्ष का उपाय प्रगट होता है। यहाँ पर जो शुद्ध सम्यग्दर्शन प्रगट करने की प्रेरणा की उसे मंगलाचरण समझना चाहिये।

संसार-दुःखों के मूल कारणरूप मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं, इसलिये उन्हें छोड़ने के लिये उनका विशेष वर्णन इस अध्याय में किया है।

(६२) दुःख दूर करने के लिये प्रथम स्व-पर का भेदज्ञान होना चाहिये

दुःखों को दूर करने के लिये पहले अपना और पर का भेदज्ञान अवश्य होना चाहिये। जीव को यदि स्व-पर का ज्ञान ही न हो तो अपने को जाने विना वह किसप्रकार अपना दुःख दूर करेगा? आत्मा पर से भिन्न स्वतन्त्र द्रव्य है; द्रव्य का विशेष (पर्याय) द्रव्य में ही होता है, पर में नहीं।

प्रत्येक द्रव्य का विशेष (पर्याय) उस द्रव्य के सामान्य स्व-भाव में से ही प्रगट होता है। सामान्य–विशेषत्व द्रव्य का ही स्वभाव है। किसी द्रव्य का विशेष किसी अन्य द्रव्य के आश्रित नहीं होता, इससे प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वतंत्र है। ऐसा स्व-पर द्रव्यों की स्वतंत्रता का यथार्थ ज्ञान सो भेदज्ञान है।

(६३) स्वभाव में एकत्वबुद्धि सो सुख, और विकार में एकत्वबुद्धि सो दुःख।

अपने को पर से भिन्न जानने के पश्चात् अपने में दो पक्ष हैं, उन्हें जानना चाहिये। वर्तमान पर्याय में विकार है, उसके साथ एकताबुद्धि ही दुःख का मूल है, और अपना त्रैकालिक स्वभाव शुद्ध है, उसमें एकताबुद्धि सो सुख का मूल है। यदि अपने स्वभाव में गुण-गुणी की एकता की प्रतीति करे तो विकार के साथ की एकताबुद्धि दूर हो जाये। अपने आत्मा में गुण-गुणी की एकता की प्रतीति के बिना जीव के विकार की एकत्वबुद्धि दूर नहीं होती; और जबतक विकार में एकत्वबुद्धि हो, तबतक जीव कषाय की मन्दता कर सकता है किन्तु उसका अभाव नहीं कर सकता। तथा कषाय-रहित स्वभाव की प्रतीति के बिना मात्र कषाय की मन्दता करे तो उससे बाह्य में जड़ का संयोग मिल सकता है किन्तु स्वभाव की शुद्धि का लाभ नहीं होता। पहले से ही उस जीव को कषाय के साथ एकत्वबुद्धि होने से, उसके फलरूप जो संयोग हैं उनमें भी एकत्वबुद्धि से) हो जायेगा और परिणामों में

संक्लिष्ट भावों का सेवन करके संसार में नीच गति में जायेगा। मेरे ज्ञान-दर्शनादि गुण त्रिकालस्वभावी द्रव्य के साथ एकता रखते हैं, वर्तमान में जो ज्ञानादि पर्यायें प्रगट हैं वे भी त्रिकाल द्रव्य के साथ एकत्व रखती हैं;—इसप्रकार गुण-गुणी अभेदस्वभाव के निर्णय बिना, शास्त्रज्ञान से जीव नवतत्त्वादि को जाने और कषाय की मन्दता करे तो पुण्यबन्ध हो, किन्तु वह पुण्य आत्मा के स्वभाव के साथ एकता नहीं रखता, अर्थात् वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। उसके फलरूप तो जड़ का संयोग मिलता है अर्थात् पुण्य तो संयोग के साथ एकत्व रखता है; वह आत्मा को किंचित्मात्र सुखदायी नहीं है। कषाय के अभावरूप वीतरागी चैतन्यभाव स्वभाव के साथ एकत्व रखता है, इसलिये नवतत्त्वादि को जानकर भी अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा करके उसमें पर्याय को अभेद करना—लीन करना यह प्रयोजन है।

(६४) धर्म का सम्बन्ध कषाय की मन्दता के साथ नहीं किन्तु स्वभाव के साथ है।

जो जीव शुद्ध स्वभाव की प्रतीति का प्रयत्न करे उसके कषाय की मन्दतारूप पुण्य तो होता ही है; किन्तु जिसका लक्ष्य कषाय की मन्दता पर है वह जीव स्वभाव को नहीं समझ सकेगा। जो जीव स्वभाव के लक्ष्य से समझना चाहता है उसके सहज ही मन्द कषाय हो जाती है, किन्तु उसका लक्ष्य कषाय की मन्दता पर नहीं होता। जो शुद्धात्मस्वभाव को समझे उसके देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, नवतत्त्वों का ज्ञान, विषय-भोग

की तीव्र गृद्धि का त्याग, इत्यादि मन्दकषाय तो होती है, अर्थात् पुण्य तो होता है, किन्तु उससे जीव का कल्याण नहीं है। यदि उस पुण्य की रुचि को छोड़कर स्वभाव में उन्मुख होजाये तो उपचार से पुण्य को निमित्त कहा जाता है; किन्तु स्वभाव के लक्ष्यरहित मात्र पुण्य को तो उपचार से भी धर्म का निमित्त नहीं कहा जा सकता। दोनों पुण्य का फल तो संसार ही है। कषाय की मन्दता का सम्बन्ध संयोग के साथ है, कषाय के अभाव का सम्बन्ध स्वभाव के साथ है। कषाय की मन्दतारूप जो पुण्य है वह संयोग के साथ एकत्व रखता है और कषाय के अभावरूप धर्म है वह गुणस्वभाव के साथ एकत्व रखता है।

पर की ओर के लक्ष्य से कुछ भी वृत्ति हो वह धर्म नहीं है। इन्द्र-इन्द्रानी को भगवान अरहंतदेव के प्रति भक्ति का जो विकल्प उठे वह विकल्प भी दुःखदायक है-आस्रव है। धर्म तो आत्मस्वभावरूप है, राग की वृत्ति के उत्थान से रहित है। पुण्य सो विकार और धर्म सो अविकार; इन दोनों की एकता त्रिकाल में भी नहीं होती।

(९५) सम्यक्‌श्रद्धा किसका अवलम्बन करती है?

"मैं चैतन्य हूँ, पुण्य-पाप मेरा स्वरूप नहीं है"—ऐसा विकल्प नहीं, किन्तु साक्षात् वैसा अनुभव करने से सम्यक्‌श्रद्धा होती है। जिस क्षण स्वभाव की श्रद्धा करता है उसी क्षण शुद्धता का अनुभव होता है। स्वभाव की श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) को शुद्ध स्वभाव का ही अवलम्बन है किन्तु देव-गुरु-शास्त्र अथवा शुभ विकल्पों का अवलम्बन उसे नहीं है। सम्यक्‌श्रद्धा की भूमिका

के साथ पुण्य होता अवश्य है, किन्तु उस पुण्य के अवलम्बन से सम्यक्श्रद्धा नहीं है। जिसके शुद्धस्वभाव की रुचि हो उसे पुण्य की भावना नहीं होती और जिसके पुण्य की भावना होती है उसे शुद्धस्वभाव की रुचि नहीं होती। सम्यक्श्रद्धा होने से उसी समय समस्त पुण्य-पाप दूर नहीं हो जाते, किन्तु श्रद्धा के अभिप्राय में तो सर्व शुभाशुभ परिणामों का अभाव ही होता है, श्रद्धा उन्हें स्वभावरूप से स्वीकार नहीं करती।

(९६) मात्र उपयोग को बदलना है

इस धर्म में क्या करना आया ? प्रथम, आत्मा जड़ का तो कुछ करता नहीं है, और जड़ में आत्मा का धर्म नहीं होता। अमुक पुण्य करो, दान करो या भक्ति करो—ऐसा भी नहीं कहा है, क्योंकि वह सब विकार है—धर्म नहीं है। किन्तु अपने चैतन्य-उपयोग को परोन्मुख करके वहीं लीन हो रहा है, उस 'उपयोग को स्वभावोन्मुख करके वहाँ लीन करना है।' 'पुण्य-पाप मेरे हैं'-ऐसी मान्यता करके अपने उपयोग को वहाँ रोक दिया है, वही अधर्म है; उस उपयोग को स्वभावोन्मुख करके, 'शुद्ध चैतन्यमूर्तिस्वभाव ही मैं हूँ'-ऐसी स्वभाव की ओर की श्रद्धा प्रथम करना है और वही प्रथम धर्म है। तथा उसके पश्चात् भी बाह्य में कुछ करना शेष नहीं रहता; और व्रत-तपादि का जो शुभराग आता है वह भी धर्मात्मा का कर्तव्य नहीं है, किन्तु जिस शुद्धस्वभाव की श्रद्धा की है उसी शुद्ध-स्वभाव में उपयोग को लगाना ही सम्यक्चारित्र और केवलज्ञान का मार्ग है। धर्म के प्रारम्भ से अन्ततक यही एक क्रिया

है कि–'शुद्धात्मस्वभाव में चैतन्यउपयोग को लीन करना।' इसके अतिरिक्त अन्य कोई क्रिया धर्म में नहीं आती। जितनी स्वभाव में लीनता उतना ही धर्म है, और जितनी कमी है उतना दोष है।

(९७) शरीर की क्रिया, प्रदेशों का क्षेत्रान्तर और इच्छा, —इन तीनों की स्वतंत्रता।

यद्यपि परमार्थ से तो आत्मा का और शरीर का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं है, किन्तु व्यवहार से आत्मा और शरीर का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है इसलिये जो परमार्थ को नहीं जानता, ऐसा अज्ञानी जीव शरीर से होने वाली सभी क्रियाओं को अपनी मानता है। निमित्त अनुकूल ही हो, किन्तु उस निमित्त के कारण से कार्य होता है–ऐसा नहीं है। शरीर गिर जाता है उस समय आत्मा भी गिर जाता है; किन्तु शरीर गिरा इसलिये आत्मा गिर गया ऐसा नहीं है, किन्तु शरीर की अवस्था शरीर के कारण हुई है और उसी समय आत्मा के प्रदेशों की योग्यता उसप्रकार क्षेत्रान्तर होने की थी इससे आत्मप्रदेशों की भी अवस्था वैसी ही हुई है।

प्रश्नः—आत्मा को गिरने की इच्छा नहीं होती, तथापि क्यों गिरता है ?

उत्तरः—गति इत्यादि की इच्छा होना सो चारित्रगुण का विकार है और प्रदेशों का क्षेत्रान्तर होना सो क्रियावती शक्ति का विकार है। चारित्रगुण और क्रियावती शक्ति भिन्न

हैं, इससे इच्छा के कारण प्रदेशों का क्षेत्रान्तर नहीं होता। प्रदेशों का क्षेत्रान्तर इच्छा की अपेक्षा नहीं रखता। नरक में जाने की इच्छा न होने पर भी वैसे भाव करने से जीव नरक में जाता है; और केवली भगवान के इच्छा का सर्वथा अभाव होने पर भी विहार के समय प्रदेशों का क्षेत्रान्तर होता है। इच्छा और प्रदेशों का क्षेत्रान्तर यह दोनों पर्यायें भिन्न-भिन्न गुण की हैं। इच्छा, प्रदेशों का क्षेत्रान्तर और शरीर का हलन चलन यह तीनों स्वतंत्र हैं।

शरीर में हलन-चलनादि अवस्था हुई उसके कारण से आत्मप्रदेशों का क्षेत्रान्तर हुआ अथवा इच्छा हुई–ऐसा नहीं है। आत्मप्रदेशों का क्षेत्रान्तर हुआ उसके कारण से शरीर में हलन-चलन हुआ अथवा इच्छा हुई–ऐसा नहीं है, और इच्छा हुई इसलिये शरीर का हलन-चलन या आत्मप्रदेशों का क्षेत्रान्तर हुआ–ऐसा भी नहीं है; तीनों की अवस्था अपने-अपने स्वतंत्र उपादान से होती है तथापि आत्मप्रदेशों का और शरीर का जब निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हो, तब शरीर में हलन-चलन होता हो और वहाँ के आत्मप्रदेश स्थिर हों—ऐसा नहीं होता, तथा आत्मप्रदेशों का हलन-चलन होता हो और उस समय वहाँ का शरीर स्थिर हो—ऐसा भी नहीं होता। तथा आत्मप्रदेश यहीं पड़े रहें और शरीर अन्यत्र कहीं चला जाये—ऐसा भी नही हो सकता। इसप्रकार निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होने पर भी दोनों की क्रिया स्वतंत्र है। जीव इच्छा करे और फिर भी आत्मप्रदेशों में तथा

शरीर में हलन-चलन नहीं भी हो–यह भी क्रिया की स्वतंत्रता को सिद्ध करता है।

(६८) उपादान–निमित्त

उपादान के कार्य को अनुकूल निमित्त होता है; किन्तु निमित्त उपादान में कार्यकारी नहीं है। यदि निमित्त से उपादान में किंचित् भी कार्य होता हो तो निमित्त स्वयं ही उपादानरूप हो जाये; और यदि वह अनुकूल न हो तो निमित्त ही नहीं कहलायेगा। उपादान और निमित्त दोनों पदार्थ तो हैं, किन्तु उन दोनों की स्वतंत्रता को न जानने वाले अज्ञानी को ऐसा भ्रम होता है कि 'निमित्त से कार्य होता है, निमित्त मिला तब कार्य हुआ अथवा निमित्त के प्रभाव से कार्य हुआ। परन्तु वस्तुस्वरूप की स्वतंत्रता है। समस्त पदार्थों की अवस्था स्वयं अपने कारण से—प्रतिसमय की स्वतंत्र योग्यता से—प्रति-क्षण हो रही है।

प्रश्नः—जीव के ज्ञानावरणादि आठों कर्मों का उदय तो एक ही साथ है, तथापि जीव के ज्ञान की हीनता में ज्ञाना-वरण कर्म को ही निमित्त कहा जाता है और अन्य कर्मों को नहीं—इसका क्या कारण है?

उत्तरः—आठों कर्म होने पर भी ज्ञानगुण की हीनता के समय ज्ञानावरण कर्म ही अनुकूल निमित्त है। ज्ञानावरण कर्म में ही निमित्तपने की ऐसी योग्यता है कि ज्ञान की हीनता के समय उसी में निमित्तपने का आरोप आता है। जिस जाति का गुण हीनरूप परिणमन करे उसके अनुकूल जो

कर्म हो उसी को निमित्त कहा जाता है, क्योंकि निमित्त अनुकूल ही होता है। किन्तु अनुकूल निमित्त का अर्थ यह नहीं कि—उस निमित्त ने ज्ञान को रोका है। निमित्त—उपादान का ज्ञान करने का प्रयोजन तो, निमित्त और निमित्त के लक्ष्य से होने वाली अवस्था—उन दोनों का लक्ष्य छोड़कर अपने स्वभाव का लक्ष्य करना है। किन्तु निमित्त—जो कि परद्रव्य हैं, जिन्हें जीव प्राप्त नहीं कर सकता और जो जीव के आधीन नहीं हैं—उन्हें प्राप्त करने के भाव में रुक जाना वह उपादान-निमित्त के ज्ञान का प्रयोजन नहीं है।

जीव को जब क्रोध हो उस समय चारित्रमोहकर्म के उदय को निमित्त कहा जाता है। 'उदय बलवान है'—ऐसा निमित्त का कथन है, वह यह बतलाता है कि उस समय जीव का पुरुषार्थ निर्बल है। चारित्रमोह के उदय के कारण क्रोध नहीं होता किन्तु जीव जब अपने स्वभाव का पुरुषार्थ छोड़कर क्रोध करे तब उस कर्म के उदय को निमित्त कहा जाता है। जीव क्रोध करे तब आँखें लाल हो जाती हैं; वहाँ क्रोध का निमित्त मिला इसलिये आँखें लाल हो गईं—ऐसा नहीं है, किन्तु आँखों के परमाणु अपनी स्वतंत्र क्रिया से लाल परिणमित हुए हैं, क्रोध के कारण परिणमित नहीं हुए हैं। आँखों का लाल होना वह परमाणुओं की क्रिया (रंग गुण की अवस्था) है, और जो क्रोध हुआ वह जीव की क्रिया (चारित्र-गुण की अवस्था) है—दोनों स्वतंत्र हैं।

(६६) जीव धर्मकार्य कब करेगा ?

भाई! तुम आत्मा हो, तुम्हारा लक्षण चैतन्य है, तुम

अमूर्त हो, और यह शरीर जड़ है; वह मूर्त है, तुम से भिन्न है। आत्मा अपनी अवस्था में कार्य कर सकता है, किन्तु शरीरादि परपदार्थों की अवस्था में वह कार्य नहीं कर सकता। ऐसा समझकर यदि जीव अपने स्वभाव में रहे तो वह विकारी कार्य का कर्ता भी न हो, किन्तु मात्र शुद्धपर्याय का ही कर्ता हो। शुद्धपर्याय ही धर्मकार्य है।

(१००) स्वतंत्र परिणमन

जड़ और चेतन पदार्थों का परिणमन स्वतंत्र है। जड़ पदार्थों को परिणमन में चेतनगुण की आवश्यकता नहीं है। जड़ पदार्थों में चेतनगुण न होने पर भी उनका परिणमन स्वयं से ही होता है, क्योंकि परिणमन करना प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है।

(१०१) जड़–चेतन का भेदज्ञान उसका फल–वीतरागता

ऐसा कहा जाता है कि बिल्ली चूहे को पकड़ती है; वहाँ यदि वास्तविक भेदज्ञान से देखें तो बिल्ली का आत्मा और उसका शरीर भिन्न हैं; उनमें बिल्ली के आत्मा ने तो चूहे का ज्ञान किया है और साथ ही उसे मारकर खाने का अत्यन्त तीव्र गृद्धिभाव किया है, तथा मुँह से चूहे को पकड़ने की क्रिया जड़ परमाणुओं के स्वतंत्र कारण से हुई है। इस-प्रकार सर्वत्र जड़–चेतन की स्वतंत्रता है। जड़–चेतन के ऐसे भेदज्ञान की प्रतीति का [illegible] र गता है। यथार्थ समझे तो

पर से अत्यन्त उदास हो आये। किन्तु यदि कोई ऐसा कहे कि–"खाना-पीना इत्यादि समस्त क्रियाएँ शरीर की हैं" और अंतरंग से उनके प्रति किंचित् उदासीनता न हो, तीव्र गृद्धि-भाव का ही पोषण करता रहे, तो उसे यथार्थरूप से स्व-पर का भेदज्ञान ही नहीं हुआ है, वह मात्र स्वच्छन्द के पोषण के लिये बातें बनाता है। यद्यपि जड़ की क्रिया तो जड़ से ही होती है, परन्तु तूने यदि वास्तव में अपने आत्मस्वभाव को पर से भिन्न जाना हो तो तुझे पर द्रव्यों को भोगने की रुचि–भाव ही क्यों होता है ? एक ओर जड़ से भिन्नत्व की बातें करना और फिर जड़ की रुचि में एकाकाररूप से तल्लीन होकर वर्तन करना–यह तो स्पष्ट स्वच्छन्द है, यह भेदज्ञान नहीं है।

(१०२) ज्ञानी भेदज्ञान कराते हैं

प्रश्नः—ऐसा सूक्ष्म ज्ञान करके हमें क्या करना है ?

उत्तरः—तुम्हें यह पहिचान कराना है कि तुम्हारा आत्म-स्वभाव कैसा है। ज्ञानीजन स्वयं पर से भिन्न आत्मा का अनुभव करके कहते हैं कि हे भाई ! तुम आत्मा हो, चैतन्य-स्वरूप हो, जगत के स्वतंत्र–भिन्न तत्त्व हो, और जड़ शरीर के रजकण भी जगत के स्वतंत्र तत्त्व हैं; उनकी अवस्था उनकी स्वतंत्र शक्ति से होती है, तुम उसके कर्ता नहीं हो। तुम अपनी पर्याय में जो ज्ञान और क्रोधादि भाव करते हो वे शरीर तुम्हें नहीं कराता। तुम भिन्न हो और परमाणु भिन्न हैं। तुम्हारी शक्ति और परमाणु की शक्ति भिन्न है, तुम्हारा कार्य और परमाणु का कार्य भी भिन्न है; इसतरह सर्वप्रकार से जड़ से

भिन्नत्व है, इसलिये तुम अपने चैतन्यस्वभाव को देखो! और पर की क्रिया तुम्हारे आधीन नहीं है इसलिए उसका स्वामित्व छोड़ दो; 'हम इसे ग्रहण कर लें और इसे छोड़ दें'–ऐसा तुम अज्ञान से मान रहे हो, किन्तु तुम से पर में कुछ भी हानि-वृद्धि नहीं हो सकती, तुम्हारा कार्य मात्र ज्ञान करने का है, विकार करने का कार्य भी वास्तव में तुम्हारा नहीं है; इसलिये पर के कर्तृत्व की मान्यता को छोड़ दो! पर में हमारा सुख है, विकार हमारा स्वरूप है, यह मान्यता भी छोड़ दो! और पर से तथा विकार से भिन्न मात्र चैतन्यस्वरूप–ऐसे अपने आत्मा को जानकर उसी की श्रद्धा करो!

(१०३) आत्मा स्वयं चैतन्यस्वरूप होने पर भी उसकी भूल कैसे हुई?

प्रश्नः—आत्मा तो स्वयं चैतन्यस्वरूप, जड़ से भिन्न है; तथापि "मैं शरीर का और विकार का कर्ता हूँ"—ऐसी उसकी भूल कैसे हुई?

उत्तरः—इस आत्मा को अनादिकाल से इन्द्रियजनित ज्ञान है; उस इन्द्रियजनित ज्ञान द्वारा अमूर्तिक चैतन्यस्वरूप तो स्वयं अपने को भासित नहीं होता किन्तु मूर्तिक शरीर का ही प्रतिभास होता है। और इसलिये–स्वयं अपने मूल स्वरूप को न जानने से–किसी अन्य को आपरूप मानकर उसमें अहंबुद्धि अवश्य धारण करता है। स्वयं अपने को पर से भिन्न चैतन्यस्वरूपी भासित नहीं हुआ, इसलिये जड़ शरीर में और शरीर के लक्ष्य से होने वाले विकारी भावों में ही वह

अपना स्वरूप मान रहा है। इसप्रकार इन्द्रियज्ञान के अवलम्बन के कारण अपने सच्चे स्वरूप की अज्ञानता ही सब भूलों का मूल है।

(१०४) यह भूल कैसे दूर हो?

इस भूल को दूर करने के लिये सम्यग्ज्ञान द्वारा आत्मा का सच्चा स्वरूप जानना चाहिये। इसलिये श्री गुरुदेव कहते हैं कि तू इन्द्रियाश्रित ज्ञान को छोड़कर आत्माश्रित सम्यग्ज्ञान से देख तो तुझे आत्मा का शुद्ध स्वरूप ज्ञात हो। जड़ से भिन्न आत्मा का स्वरूप और उसकी चैतन्यक्रिया सम्यग्ज्ञान से ज्ञात होती है, और यह जानने पर जड़ की और विकारी क्रिया का स्वामित्व छूट जाता है। अंतरंगस्वभाव की ओर उन्मुख होकर शान्त होकर अतीन्द्रिय ज्ञान से अन्तर में नहीं देखता और मात्र इन्द्रियज्ञान से पर की ओर ही देखता रहता है। आत्मा अथवा आत्मा का भाव ऐसे नहीं हैं कि वे इन्द्रियज्ञान से जाने जा सकें। जड़—चेतन के भिन्नत्व का न्यायी ज्ञान—यथार्थ ज्ञान प्रगट करना वह आत्मा के आधीन है; वह भेदज्ञान करने की शक्ति अतीन्द्रिय ज्ञान में है; चैतन्यस्वभाव के आश्रय से ही वह ज्ञान प्रगट होता है। इन्द्रियाँ तो जड़ हैं, उनके अवलम्बन से होने वाले इन्द्रियज्ञान में न्याय करने की अर्थात् जड़—चेतन का भेदज्ञान करने की शक्ति नहीं है।

(१०५) अधर्मदशा और धर्मदशा

परलक्ष्य से जितने भाव हों वे सब विकार हैं—फिर चाहे वे भाव तीर्थंकर की स्तुति के हों या जीवहिंसा के हों। किन्तु

दोनों प्रकार के भाव परलक्ष्य से होने के कारण विकार है। और उस विकार को अपना स्वरूप मानना सो अपने धर्म-स्वरूप की हिंसा है और धर्मस्वरूप की हिंसा ही जगत में सबसे महान् पाप है। जहाँ धर्मस्वरूप आत्मा का भान न हो वहाँ पर का और विकार का स्वामित्व होता ही है अर्थात् अधर्म ही होता है। और जहाँ धर्मस्वरूप आत्मा का भान हो वहाँ परलक्ष्य से होने वाले किसी भी शुभाशुभभावरूप अधर्म का स्वामित्व होता ही नहीं।

(१०६) वीतराग भगवान किसके निमित्त हैं ? वीतरागता के अथवा राग के ?

सर्वज्ञ वीतरागदेव गुणमूर्ति हैं, उनमें किंचित् भी रागादि दोष नहीं हैं; उनका स्वभाव शरीर–मन–वाणी के अवलम्बन से पार और राग से भी पार शुद्ध चैतन्यरूप है, इसलिये वे तो अन्य जीवों को गुण के ही निमित्त हैं। उनमें गुण ही हैं, इससे वे अन्य जीवों को भी शुद्ध आत्मस्वरूप दर्शाने में ही निमित्त हैं; किन्तु रागी स्वरूप दर्शाने में निमित्त नहीं हैं क्योंकि उनमें राग नहीं है–यह बात भगवान की ओर की हुई।

अब इस जीव की ओर से लेने पर–अपनी अपेक्षा से भगवान पर हैं इसलिये वे इस जीव को राग के ही निमित्त हैं। भगवान के ऊपर का लक्ष्य सो परलक्ष्य है, परलक्ष्य से तो राग ही होता है। यदि शुभराग करे तो शुभ का निमित्त कहा जाता है और अशुभ राग करे तो अशुभ राग का निमित्त भी कहा जाता है।

भगवान की अपेक्षा से तो ये वीतरागता के ही निमित्त हैं, किन्तु वीतरागता के (—निर्मल पर्याय के) निमित्त किस जीव को कहे जाते हैं ? जिस जीव को पहले तो भगवान का लक्ष्य हो किन्तु भगवान के लक्ष्य में ही न अटक कर, उनका लक्ष्य छोड़कर अपने स्वभाव का लक्ष्य करके वीतरागी दृष्टि प्रगट करे, उस जीव के लिये उपचार से भगवान वीतरागता के निमित्त कहे जाते हैं। जो जीव भगवान का लक्ष्य छोड़कर स्वयं वीतरागता प्रगट करे उसके लिये उपचार से भगवान को निमित्त कहा जाता है, किन्तु जो अपने में वीतरागी दृष्टि प्रगट न करे और भगवान के लक्ष्य में ही रुका रहे उसके लिये भगवान को उपचार से भी वीतरागता का निमित्त नहीं कहा जाता, उसे तो वे राग के ही निमित्त हैं।

अथवा अन्य प्रकार से कहा जाये तो भगवान सीधे तो राग के ही निमित्त हैं और परम्परा से वीतरागता के निमित्त हैं। यह किस प्रकार ?—वह समझाया जाता है। जब तक भगवान के ऊपर लक्ष्य हो तब तक तो जीव को राग ही होता है, इसलिये सीधी रीति से तो भगवान राग के ही निमित्त हैं; किन्तु जब भगवान का लक्ष्य छोड़कर स्वभाव की ओर उन्मुखता करके सम्यग्दर्शनादि वीतरागी भाव प्रगट करता है तब, पूर्व में जो भगवान की ओर लक्ष्य था उसका उपचार करके भगवान को उस वीतरागभाव का निमित्त कहा जाता है।

(१०७) अज्ञानी का भ्रम, उसका कारण, और उसे दूर करने का उपाय

जीव स्वयं देखता-जानता है, परन्तु स्वयं देखता-जानता

है वैसा मानता नहीं है; किन्तु साथ ही अपनी विपरीत मान्यता को मिलाता है। जीव को अनादि से इन्द्रियज्ञान है; उस ज्ञान द्वारा आत्मा तो दिखाई नहीं देता किन्तु मूर्त पदार्थ दिखाई देते हैं। इन्द्रियज्ञान से इतना ज्ञात होता है कि 'यह हाथ चला;' किन्तु जीव विपरीत श्रद्धा से ऐसा मानता है कि आत्मा ने हाथ चलाया। आत्मा तो उसे दिखाई नहीं देता, और हाथ ही स्वयं चलता हुआ दिखाई देता है, किन्तु अज्ञानी जीव विपरीत मानता है। आत्मा के चैतन्यभावों को इन्द्रिय द्वारा होने वाले ज्ञान से नहीं देख सकता; इसलिये आत्मा को और शरीर की क्रियाओं को वह जीव भिन्न नहीं जानता, किन्तु एकमेक मानता है। यदि सम्यग्ज्ञान के अभ्यास द्वारा जड़ और चेतन को भिन्न-भिन्न स्वरूप से यथार्थतया पहिचाने तो उसका यह भ्रम दूर हो जाये।

(१०८) जीव शरीर को अपना क्यों मानता है?

प्रश्न:—आत्मा अनादिकाल से शरीर के साथ ही रहा है, कभी भी शरीर के बिना नहीं रहा; इस कारण वह शरीर के साथ एकत्व मानता है—यह ठीक है?

उत्तर:—अनादिकाल से आत्मा शरीर से भिन्न ही भिन्न रहा है, एक क्षणभर को भी एकमेक नहीं हुआ, निरन्तर भिन्न ही है। अज्ञानदशा में भी जीव और शरीर तो भिन्न ही हैं; किन्तु अज्ञानी जीव आत्मा के चैतन्यलक्षण को नहीं जानता इसलिये शरीर को अपना मानता है।

(१०९) क्षायिक सम्यक्त्व और भव

प्रश्नः—क्षायिक सम्यक्त्व में कितने भव होते हैं ?

उत्तरः—क्षायिक सम्यक्त्वमें एक भी भव नहीं होता, क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्व तो शुद्धता है और भव का कारण तो विकार है; गुण कहीं भव का कारण नहीं है। (यहाँ 'गुण' कहने से 'शुद्ध पर्याय' समझना चाहिये।)

प्रश्नः—जिसके क्षायिक सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ हो किन्तु अभी चारित्र का दोष हो, वैसे जीव को कितने भव (अधिक से अधिक) होते हैं ?

उत्तरः—क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव को चारित्र के विकार के कारण अधिक से अधिक चार भव (वर्तमान भव सहित) होते हैं। जिस भव में क्षायिक सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ हो, उस भव के पश्चात् तीन भव से अधिक नहीं होते।

इसमें, सम्यक्त्व भव का कारण नहीं है, किन्तु चारित्र का दोष भव का कारण है—ऐसा कहकर गुण–दोष के बीच का भेद-ज्ञान भी कराया है।

(११०) नैगमनय का आरोप कब लागू होता है ?

प्रश्नः—किसी जीव के वर्तमान में अंश प्रगट हुआ हो, और उस अंश में नैगमनय से पूर्ण का आरोप करना—वह तो ठीक है; वहाँ तो नैगमनय से जो आरोप किया है उसके अंश का प्रारम्भ हो गया है। किन्तु, जिस जीव के वर्तमान में उस प्रकार का प्रारम्भ किसी भी अंश में न हुआ हो वैसे जीव में

नैगमनय से आरोप कर सकते हैं या नहीं ? अथवा जिसके वर्तमान में कुछ अंशों में प्रारम्भ हो गया हो उसे ही नैगमनय का आरोप लग सकता है ?

उत्तरः—वर्तमान में ही उस प्रकार का अंश प्रारम्भ हुए विना नैगमनय लागू नहीं हो सकता। किन्तु यदि वर्तमान में ही उस प्रकार का अंशतः परिणमन प्रारम्भ हो गया हो और श्रुतज्ञानी के ज्ञान में उस अंश का ख्याल आ जाये तभी उसके नैगमनय का आरोप लागू हो सकता है। यदि उसके किसी भी प्रकार के अंश का प्रारम्भ न हुआ हो तो श्रुतज्ञानी को उसकी खबर किस प्रकार पड़ेगी ? और अंश का प्रारम्भ तो हुआ हो तथापि यदि श्रुतज्ञानी को उस अंश का ख्याल न आये तो उस पूर्ण का अनुमान किसप्रकार कर सकता है ? और अंश में पूर्ण का आरोप भी किसप्रकार कर सकता है ? नय तो श्रुतज्ञानी के ज्ञान में होते हैं। इसलिये अंशतः प्रारम्भ हुआ हो और श्रुतज्ञानी के ख्याल में आये, पश्चात् उस अंश में पूर्ण का आरोप करे तो वहाँ नैगमनय लागू हुआ कहा जाता है।

(१११) पुरुषार्थ की परोन्मुखता

जीव में वीर्य (पुरुषार्थ) नाम का गुण है और उस गुण में प्रतिक्षण कार्य हो रहा है, अर्थात् जीव प्रतिक्षण पुरुषार्थ तो करता है, किन्तु अपने शुद्ध स्वभाव की रुचि और ज्ञान न होने से वर्तमान में पुरुषार्थ परोन्मुख होता है; स्वभाव की रुचि और ज्ञान करके उस पुरुषार्थ को स्वभावोन्मुख करना है।

(११२) पाप, पुण्य और धर्म

संसार में पाप की अपेक्षा पुण्य को अच्छा कहा जाता है, और इससे किसी समय किसी जीव को पाप से छुड़ाने के लिये पुण्य करने का उपदेश ज्ञानी भी देते हैं, किन्तु ज्ञानी उसमें धर्म कभी नहीं मनाते। धर्म की अपेक्षा से तो पुण्य और पाप—दोनों बन्ध के ही कारण होने से समान ही हैं; दोनों प्रकार के भाव विकार हैं; आत्मा के अविकारी धर्म से विरुद्ध भाव हैं, इसलिये दोनों छोड़ने योग्य हैं।

(११३) बन्ध का अधिक कारण कौन है?

प्रश्न:—पुण्य और पाप दोनों बन्ध के ही कारण हैं, तो उनमें बन्ध का अधिक कारण कौन होगा?–पुण्य या पाप?

उत्तर:—वास्तवमें तो 'पुण्य-पाप मेरे'–ऐसा मानना, अथवा पुण्य अच्छा और पाप बुरा; इसप्रकार दोनों में भेद मानना वह मान्यता ही महान् बन्ध का कारण है। पुण्य-पाप मेरे हैं—ऐसा जो जीव मानता है वह चाहे शुभ करे या अशुभ, किन्तु उसके तीव्र बन्धन होता ही रहता है। मूल बन्ध का कारण मिथ्या श्रद्धा है, वह दूर हो जाने के पश्चात् पुण्य-पाप के भावों से जो बन्धन होता है वह तीव्र बन्धन नहीं है और वह दीर्घ संसार का कारण नहीं है। ज्ञानी की दृष्टि में उसका स्वामित्व नहीं होता। शुभाशुभ परिणाम का स्वामित्व सो मिथ्यादर्शन है।

निश्चय से शुभ और अशुभ दोनों समानरूप से बन्ध के ही कारण हैं, किन्तु जब शुभाशुभभावरहित निर्विकल्प दशा में

स्थित न रह सके उस समय पापभावों को छोड़कर ज्ञानी पुण्य-भावों में युक्त होते हैं; क्योंकि पुण्यभाव में मन्द कषाय है और पापभाव में तीव्र कषाय है। पुण्य, संसार में शुभ गति का कारण है और पाप दुर्गति का कारण है। इसलिये व्यवहार से पुण्य को मन्द बन्ध का और पाप को तीव्र बन्ध का कारण कहा जाता है। किन्तु जिसे पुण्य की रुचि है उसे तो पुण्य या पाप—दोनों के समय मिथ्यात्व का अनन्त बन्धन होता है।

(११४) आत्मा की ओर प्रेम कब जागृत होता है ?

जीव ने अनादि से यही ध्यान में नहीं लिया कि आत्म-स्वभाव क्या है ! इसलिये उसे जड़ शरीर का और विकार का प्रेम है, किन्तु आत्मा का प्रेम नहीं है। यदि एकबार भी यथार्थ उल्लास से आत्मस्वभाव के प्रति प्रेम जागृत हो तो अल्पकाल में ही मुक्तदशा हो जाये।

प्रश्नः—आत्मा की ओर प्रेम कब जागृत होता है ?

उत्तरः—आत्मा की पहिचान करने पर ही उसकी ओर सच्चा प्रेम जागृत होता है। वस्तु के स्वरूप को जाने बिना उसकी महिमा नहीं आती और उसकी ओर प्रेम नहीं होता। जैसे लोकव्यवहार में–कोई सम्बन्धी मनुष्य परदेश में प्रतिदिन मिलता हो, किन्तु जबतक पहिचान न हो कि वह कौन है तबतक उसके प्रति प्रेम नहीं होता; किन्तु जब यह खबर पड़े कि यह तो हमारे गांव का और हमारा कुटुम्बी है, तो उसी समय उसके प्रति प्रेम जागृत हुए बिना नहीं रहता। पहले भी वही मनुष्य था और इस समय भी वही है, तथापि

पहले पहिचान न होने के कारण प्रेम नहीं था, और अब पहिचान हो गई इसलिये प्रेम हुआ है। उसी प्रकार यह ज्ञानस्वभावी आत्मा निरन्तर अपने पास ही है, प्रतिक्षण जानने का कार्य करता है, किन्तु स्वयं अपने स्वभाव को नहीं जानता इसलिये उसे अपने आत्मस्वभाव के प्रति उल्लास और प्रेम जागृत नहीं होता। आत्मा तो सदैव अपने पास ही है—स्वयं ही आत्मा है, किन्तु स्वयं अपने आत्मस्वरूप की यथार्थ पहिचान नहीं है और उसे अन्यरूप (विकार या जड़रूप) मान रहा है इससे स्वभाव का यथार्थ प्रेम जागृत नहीं होता। किन्तु यदि आत्मा की सच्ची पहिचान करे तो उसे खबर हो कि अरे! यह आत्मा तो विकारी नहीं है, जड़ नहीं है, किन्तु उनसे भिन्न चैतन्यस्वरूप है और यही मैं हूँ—यही मेरा स्वरूप है; ऐसा भान होने पर आत्मा के प्रति अपूर्व प्रेम जागृत होता है। पहले भी आत्मा का स्वभाव तो यही था और इस समय भी आत्मा यही है, किन्तु पहले अपने स्वभाव की स्वयं को पहिचान न होने के कारण आत्मा के प्रति भक्ति-प्रेम जागृत नहीं होता था और अब, यथार्थ पहिचान हो गई इससे उसके प्रति यथार्थ भक्ति और प्रेम जागृत हुआ है। अर्थात् यथार्थ पहिचान के विना यथार्थ भक्ति या प्रेम (महिमा, रुचि, आदर) नहीं हो-सकता।

(११५) जिसके विकार का प्रेम है उसके स्वभाव का अनादर है

मैं चिदानन्द ज्ञातास्वरूप हूँ—ऐसा यदि नहीं जाना और

स्वभाव को भूलकर विकार का प्रेम किया, तो वह जीव तीर्थंकर भगवान की भक्ति के नाम से चाहे जैसे शुभभाव करे अथवा लाखों रुपये दान में खर्च कर दे, तथापि उससे आत्मा को कुछ भी धर्मलाभ नहीं होगा, किन्तु उल्टा वह राग से आत्मा को लाभ मानेगा इसलिये तीव्र अंतरायकर्म का बन्ध करके, मूढ़ होकर चौरासी के अवतार में उलझता फिरेगा। चाहे जैसे पुण्य-पाप करे और उनसे आत्मा को किंचित् भी लाभ माने उस जीव को आत्मा के स्वभाव का प्रेम नहीं है, किन्तु विकार का प्रेम है। पुण्यभाव से धर्म तो नहीं होता किन्तु उससे सात या आठ प्रकार के कर्म बँधते हैं, और आत्मा की शुद्धि का घात होता है। चाहे जैसे शुभाशुभ विकारभाव करे तो भी उनके फल में चौरासी के ही अवतार हैं और आत्मस्वभाव की पहिचान वह चौरासी के अवतार का नाश करके सिद्धदशा की प्राप्ति का कारण है। स्वभाव में भव नहीं होते और विभाव में भव का अन्त नहीं होता। किसी भी प्रकार के बन्धभाव से आत्मा के गुणों की वृद्धि नहीं होती, किन्तु हानि ही है। जहाँ विकार का सत्कार है वहाँ निर्विकार स्वरूप का अनादर है।

(११६) पुरुषार्थ की स्वाधीनता

अपने स्वभाव का कार्य करने में वर्तमान पुरुषार्थ ही कार्यकारी है; स्वभाव के कार्य में कर्मों का कुछ भी नहीं चलता। और पर वस्तु के संयोग-वियोग में आत्मा का पुरु-पार्थ कुछ नहीं कर सकता, वहाँ तो पूर्व कर्मों के निमित्त से

उसकी योग्यतानुसार ही संयोग-वियोग होते हैं। इसलिये पर से भिन्न अपने स्वभाव को जानकर उसमें स्थिरता के पुरुषार्थ से जीव अपनी सम्पूर्ण शुद्ध मोक्षदशा प्रगट कर सकता है, उसके लिये उसे किसी कर्म के ऊपर देखना नहीं रहता।

(११७) जो तीर्थंकरों को सहायक मानता है वह तीर्थंकरों का अनादर करता है।

तीर्थंकर तो कहते हैं कि हे जीव! तू अपनी शक्ति से स्वाधीन सम्पूर्ण स्वतंत्र है; हमारे आश्रय की तुझे आवश्यकता नहीं है, और हम तेरा कुछ नहीं कर सकते। इसप्रकार हमने तो तेरी स्वतंत्रता की घोषणा की है, तथापि तू अपनी स्वाधीनता को न मानकर हमें अपना सहायक माने, अथवा हमारे ऊपर जो राग हो उससे लाभ माने, तो तू हमारे कथन को न मानने वाला—हमारा विरोधी है; तूने हमें पहिचाना नहीं है, और हमारे कथन को भी तूने नहीं माना है।

(११८) जीव के गुणों में 'चेतन' और 'जड़' —ऐसे दो प्रकार

आत्मा में अनन्त गुण हैं, उनमें ज्ञान के अतिरिक्त सुख इत्यादि अन्य गुण स्व-पर को नहीं जानते; इस अपेक्षा से उन्हें जड़ कहा जा सकता है। किन्तु वे गुण भी जीव में अभेदरूप से होने के कारण वे जीव हैं—'अजीव' नहीं हैं, और अजीव द्रव्य में विद्यमान नहीं हैं। कर्म, शरीर इत्यादि पदार्थ तो जानते नहीं हैं और वे जीव के स्वभाव में भी नहीं हैं; इसलिये वे तो जड़–अजीव हैं; विकारीभाव भी कुछ नहीं जानते और वे

जीव के स्वभाव में नहीं हैं, इसलिये उन्हें भी जड़ और अजीव कहा जाता है। किन्तु ज्ञान के अतिरिक्त सुख इत्यादि अन्य गुण—यद्यपि वे जानने का कार्य नहीं करते तो भी—वे हैं तो जीव के स्वभाव में ही इसलिये उन गुणों को कथंचित् जड़ कहा जा सकता है किन्तु वे अजीव द्रव्य या उसके गुण नहीं हैं। ज्ञान के अतिरिक्त अन्य गुणों को जड़ कहने से ऐसा नहीं समझना चाहिये कि वे जीव से बाहर हैं अथवा रूपी हैं, यहाँ तो उन्हें इतनी ही अपेक्षा से जड़ कहा है कि उनमें ज्ञातृत्व नहीं है, वे हैं तो अरूपी और जीव के स्वभाव में ही विद्यमान हैं। इसमें जीव के अनेकान्तस्वभाव को बतलाया है।

(११६) आत्मा की भावना या आत्मा का ध्यान कब हो सकते हैं?

स्वभाव का परिणमन स्वभाव की भावना के आधीन है, किन्तु स्वभाव की भावना कब कर सकता है? प्रथम तो जैसा स्वभाव है वैसा जाने तो उसकी महिमा लाकर भावना करे। किन्तु बिना जाने किसकी भावना करेगा? जैसे कोई कहे कि भैंसे का ध्यान करो अथवा अमेरिका देश का चितवन करो...... परन्तु जिसने कभी भैंसे को देखा ही न हो तथा अमेरिका देश का कुछ ज्ञान ही न किया हो वह जीव उसका ध्यान या चितवन किस प्रकार करेगा? वैसे ही जिसने आत्मस्वभाव को सत्समागम से जाना ही नहीं है वह आत्मा का ध्यान या उसकी भावना कैसे कर सकेगा? प्रथम जिज्ञासु होकर सत्स-मागम करके अपने पूर्ण स्वभाव को जाने तो पश्चात् पुरुषार्थ

के द्वारा उस पूर्ण स्वभाव की भावना करके पर्याय में ही कार्य लाना चाहे तो ला सकता है; किन्तु जबतक स्वभाव को और विकार को भिन्न-भिन्न स्वरूप में न जाना हो तबतक स्वभाव के वदले विकार में ही तन्मय होकर उसकी भावना करता है; और जब प्रज्ञाछैनी (सम्यग्ज्ञान अर्थात् भेदज्ञान) द्वारा विकार को और स्वभाव को भिन्न-भिन्न स्वरूप से जान ले तव जीव स्वभाव की ही भावना करता है किन्तु विकार की भावना कभीं नहीं करता। और जैसी भावना वैसा परिणमन—इस न्याय से उस जीव के स्वभाव की भावना होने से प्रतिक्षण शुद्धता की वृद्धि होती रहती है और विकार की भावना न होने के कारण विकार प्रतिक्षण दूर होता जाता है।

(१२०) केवलज्ञान क्यों रुका है ?

पंचमकाल या भरतक्षेत्र तेरे केवलज्ञान को रोकते नहीं हैं, और चौथा काल या महाविदेह क्षेत्र तुझे केवलज्ञान देने में समर्थ नहीं हैं। तेरे पुरुषार्थ की हीनता से ही तेरा केवलज्ञान रुका है और तेरा पूर्ण पुरुषार्थ हो तुझे केवलज्ञान देने में समर्थ है। केवलज्ञान किसी संयोग में से प्रगट नहीं होता किन्तु तेरे स्वरूप में से ही प्रगट होता है और तेरा स्वरूप त्रिकाल तेरे पास परिपूर्ण है, इससे पूर्ण स्वरूप की भावना का पूर्ण पुरुपार्थ प्रगट करके चाहे जिस संयोग में तू केवल-ज्ञान प्रगट कर सकता है। वर्तमान में तेरी भावना और पुरुषार्थ की अपूर्णता के कारण ही तेरा केवलज्ञान रुका है, न कि संयोगों के कारण ? इसलिये संयोगों का लक्ष्य छोड़कर अपने स्वभाव की भावना और पुरुषार्थ की वृद्धि कर।

(१२१) सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान

जीव के ज्ञान का विकास तो है, किन्तु उस ज्ञान को प्रयोजनभूत तत्त्व में लगाने के बदले अप्रयोजनभूत तत्त्व में लगाता है। सर्प को सर्परूप से जाने तथा डोरी को डोरीरूप से जाने, अथवा स्वर्ग-नरकादि का ज्ञान करे तो उससे कहीं सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता। यदि अपने प्रयोजनभूत आत्मस्वभाव को न जाने तो उस जीव का सभी ज्ञान मिथ्या ही है, वह जीव डोरी को डोरीरूप से जाने तथापि उसका वह ज्ञान मिथ्या ही है। जो ज्ञान मोक्ष के कारणभूत न हो वह मिथ्या है और जो मोक्ष के कारणभूत हो वह सम्यक् है। सम्यक्दृष्टि जीवों को स्व-पर का भेदज्ञान होता है, वे कदाचित् डोरी को सर्परूप से जान लें तो उस समय भी उनका ज्ञान सम्यक्ज्ञान ही है। अप्रयोजनभूत पदार्थों का विपरीत ज्ञान भी स्वतत्त्व की पहिचान को हानि नहीं पहुँचाता। जिस जीव ने प्रयोजनभूत स्वतत्त्व को जाना है उसके राग के समय भी सम्यग्ज्ञान है। अवगुण हो, तथापि ज्ञानी ऐसा जानते हैं कि यह अवगुण है, यह मेरा स्वरूप नहीं है। इसप्रकार, अवगुण के समय भी ज्ञानी के गुणस्वभाव में विपरीत खतौनी न होने से—स्व-पर का भेदज्ञान प्रवर्तमान होने से—उसका सर्व ज्ञान सम्यक् है। अज्ञानी को पुण्य का विकल्प आये तब ऐसा जानता है कि 'यह जो पुण्यभाव है वह मेरा स्वभाव है, अर्थात् यह पुण्यभाव और आत्मा एकमेकरूप है, और इस पुण्यभाव से आत्मा को लाभ होगा—कल्याण होगा;' इसप्रकार उसके भेदज्ञान न रहने से उसका सर्व ज्ञान मिथ्या है। यथार्थ ज्ञान का प्रयोजन स्वरूप का लाभ होना है। यथार्थ ज्ञान

का जो कार्य होना चाहिये वह मिथ्यादृष्टि जीव में दिखाई नहीं देता, इसलिये कार्य के अभाव में कारण का भी अभाव है।

(१२२) मिथ्याज्ञान का कारण क्या है? और उसमें निमित्त कौन है? ज्ञानावरणीय या मोहनीय?

प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों को यथार्थ जानना सो सम्यक्‌ज्ञान है और उन्हें यथार्थ न जानना सो मिथ्याज्ञान है। मोह-भाव के कारण जीव के मिथ्याभाव होता है, किन्तु सम्यक्‌भाव नहीं होता; अथवा अपने ज्ञान को स्वभावोन्मुख न करके परोन्मुख करता है—इसी से जीव के ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहा जाता है। जैसे—विष के संयोग से भोजन को भी विषरूप कहा जाता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व के सम्बन्ध से ज्ञान को भी मिथ्याज्ञान कहा जाता है। यदि मात्र ज्ञानगुण को भिन्न करके—मिथ्यादर्शन की अपेक्षा लिये बिना कहा जाये तो ज्ञान में मात्र हीनरूप परिणमन होता है, वह ज्ञान अपने को जानने की ओर उन्मुख नहीं होता, इसलिये उसे कुज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान भी कहा जाता है।

अप्रयोजनभूत तत्त्वों को जानने-न जानने में ज्ञानावरण कर्म का निमित्त है; और प्रयोजनभूत तत्त्वों को जानने की शक्ति ही पर्याय में न हो, तो वहाँ उन असंज्ञी जीवों को ज्ञानावरण और दर्शनमोह—दोनों का निमित्त है, और संज्ञी जीवों के प्रयोजनभूत तत्त्वों को जानने की शक्ति (क्षयोपशम) तो पर्याय में लब्धरूप से हो, परन्तु जीव प्रयोजनभूत तत्त्वों को न जाने

तो उनके मिथ्यात्व का उदय निमित्तरूप समझना चाहिये। इससे मिथ्याज्ञान में ज्ञानावरण निमित्तरूप नहीं है, किन्तु मिथ्यात्व-मोहजनित भाव ही उसमें निमित्तरूप है।

ज्ञान, मिथ्याज्ञान, अथवा सम्यग्ज्ञान कहने में ज्ञानावरण कारणभूत नहीं है, क्योंकि ज्ञानावरण का उदय तो मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि—दोनों को होता है, इसलिये यदि ज्ञानावरण के उदय को मिथ्याज्ञान का निमित्तकारण माना जाये तो उन दोनों को मिथ्याज्ञान मानना पड़ेगा। किन्तु ज्ञानावरण का उदय होने पर भी सम्यग्दृष्टि के मिथ्याज्ञान नहीं होता, इसलिये ज्ञानावरण का उदय उस मिथ्याज्ञान का निमित्तकारण नहीं है। उसी प्रकार ज्ञानावरण का क्षयोपशम सम्यग्ज्ञान का कारण नहीं है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों को ज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर भी मिथ्यादृष्टि के सम्यग्ज्ञान नहीं होता। इसलिये यहाँ पर ऐसा जानना चाहिये कि अप्रयोजनभूत सर्प इत्यादि का ज्ञान न होने में तो ज्ञानावरण कर्म निमित्तकारण है, किन्तु प्रयोजनभूत तत्त्वों को न जानने में तो मिथ्यात्वकर्म निमित्तरूप है।

संज्ञी जीवों के प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों को जानने की और अप्रयोजनभूत अन्य पदार्थों को यथार्थ जानने की शक्ति जितना क्षयोपशम होता है, तथापि वे प्रयोजनभूत स्वतत्त्व को जानने में न रुककर अन्य अप्रयोजनभूत पदार्थों को जानने में ही रुकें तो उसमें ज्ञान का दोष ही उपादानकारण-रूप है। यदि प्रयोजनभूत स्वतत्त्व को जानें तो उनका ज्ञान

सम्यग्ज्ञान हो जाये, किन्तु प्रयोजनभूत स्वतत्त्व को न जानने से ही उनका ज्ञान मिथ्याज्ञान है।

प्रयोजनभूत तत्त्वों को न जानने में ज्ञानावरणीय का निमित्त नहीं है किन्तु मोह का निमित्त है। जानने की शक्ति तो ज्ञान में है, इससे ज्ञानावरण का उदय निमित्तकारण नहीं है, परन्तु जानने की शक्ति होने पर भी उसके द्वारा प्रयोजनभूत तत्त्वों को जानने का लक्ष्य नहीं करता, किन्तु अप्रयोजनभूत को जानने का ही लक्ष्य करता है; वहाँ ज्ञानसामर्थ्य होने पर भी विपरीत मान्यता (प्रयोजनभूत स्वतत्त्व की अरुचि) के कारण अप्रयोजनभूत के जानने में ही रुकता है। इसप्रकार प्रयोजनभूत को न जाने—उसमें मोहनीय का निमित्तकारण है। यहाँ पर वास्तव में तो ज्ञानदशा स्वयं स्वभावोन्मुख होकर एकाकार नहीं हुई, इसी से उसे मिथ्याज्ञान कहा गया है अर्थात् उसमें उपादानकारणरूप तो वह ज्ञानदशा स्वयं ही है। उस समय की उस ज्ञानदशा की अशुद्धता की योग्यता के कारण वह मिथ्याज्ञान हुआ है; और मोहनीय कर्म अथवा विपरीत श्रद्धा उसका निमित्तकारण है। एक गुण के कारण दूसरे गुण में कुछ होता है, ऐसा कहना सो व्यवहार है अर्थात् निमित्त से कथन है; वास्तव में तो प्रत्येक गुण की स्वतंत्र योग्यतानुसार उसकी पर्याय होती है।

(१२३) बमबारी, और उससे बचने का उपाय

अज्ञानी जीव इस बात को रुचिपूर्वक और तत्परता से जानना चाहता है कि जगत में कहाँ बम गिरा, और किस देश

की कौन सी इमारत नष्ट हुई; किन्तु अनन्त गुणरूपी महलों से परिपूर्ण अपने आत्मप्रदेश में प्रतिक्षण विपरीत मान्यतारूपी भयंकर बम स्वयं फेंक रहा है और आत्मा की अनन्त शक्ति का घात कर रहा है, उसे देखने की सावधानी नहीं रखता और उस बमवारी से बचने का प्रयत्न नहीं करता। हे जीव! वाह्य में जो बम गिरते हैं उनसे तेरे आत्मा को कुछ भी हानि नहीं है, किन्तु तेरे आत्मा में विपरीत मान्यतारूपी बमों से तेरी ज्ञानशक्ति का हनन होता है—उसी की तुझे हानि है; उससे बचने के लिये तू सच्ची श्रद्धा का प्रयत्न कर। अपनी अंतरंग गुफा का आश्रय ले तो उसमें तुझे कोई बम नहीं लग सकेगा। जगत में जड़ के ऊपर बमवारी होती है, उससे बचने का प्रयत्न (भाव) तो करता है, परन्तु अपने आत्मा की यथार्थ पहिचान के अभाव से गुणस्वरूप के ऊपर बम पड़ रहे हैं और प्रतिक्षण गुणों की शक्ति कम होती जा रही है, उसकी सँभाल तो कर। वाह्य बमों से बचने का तेरा प्रयास निष्फल है, यदि उनसे बच भी गया तो उससे तेरे आत्मा को किंचित् लाभ नहीं है। अंतर में विपरीत मान्यतारूपी बमों से बचना ही सच्चा आत्मकल्याण है।

जगत के अधिकांश जीवों को आत्मकल्याण की चिंता ही नहीं है। मात्र देहदृष्टि ही होने से वाह्य के बमों से और प्रतिकूलता से बचने का प्रयत्न करते हैं और उसके लिये भटकते फिरते हैं, परन्तु अंतर में सम्यग्दर्शन के अभाव से मिथ्यात्व की बमवारी हो रही है और उसके कारण अनन्तकाल से

अनन्त भव से अपार दुःख भोग रहा है, तथा उस मिथ्यात्व के कारण भविष्य में भी अनन्त दुःख भोगना पड़ेंगे; उनसे बचने के लिये तो विरले ही जीव सत्समागम से प्रयत्न करते हैं। "मैं आत्मा कौन हूँ, मेरा क्या होगा, मेरा सुख कैसे प्रगट होगा, अनन्तानन्त काल से दुःखी होकर परिभ्रमण कर रहा हूँ, उससे पार होने का क्या उपाय होगा"—ऐसी तीव्र आकांक्षा जागृत होकर जबतक अपनी चिंता न हो तबतक जीव के पर-लक्ष्य से जितना ज्ञान का विकास हो वह अप्रयोजनभूत पदार्थों को जानने में ही रुका रहता है, किन्तु प्रयोजनभूत आत्म-स्वभाव को जानने का प्रयत्न—अभ्यास नहीं करता और इससे उसे अज्ञान और दुःख बने ही रहते हैं। इसलिये सर्व प्रथम, अप्रयोजनभूत पर द्रव्यों को जानने की रुचि छोड़कर अपने परम आत्मतत्त्व को जानने की रुचि करना चाहिये; यही कल्याण का मार्ग है।

(१२४) अनेकान्त वस्तुस्वभाव

वस्तु ही अनेकान्तस्वभाव वाली है, और अनेकान्तस्वभाव वाली वस्तु सम्यग्ज्ञान के बिना जानी जाये—ऐसा नहीं है; इसलिये तू अपने ज्ञान को आत्मस्वभाव की ओर उन्मुख करके सम्यक् बना। यदि तू अनेकान्त में कुछ खींचातानी करेगा तो तेरा मस्तक टूट जायेगा, अर्थात् वस्तु का स्वरूप तो जैसा है वैसा ही है, वह कहीं परिवर्तित होने वाला नहीं है, किन्तु एकान्त पक्ष से तेरे ज्ञान में मिथ्यात्व होगा। यह कोई साधा-रण बात नहीं है, किन्तु यह तो वस्तु के स्वभाव को सिद्ध करने

वाला वीतरागविज्ञान ही है। इसलिये अपना आग्रह छोड़कर वस्तुस्वभाव के निकट नतमस्तक हो जा, स्थिर हो जा। जहाँ स्वयं वस्तु ही अपने स्वरूप को घोषित कर रही है वहाँ किसी का आग्रह नहीं चल सकता।

तीन लोक के पदार्थों का जैसा त्रिकालस्वरूप है वैसा ही सर्वज्ञदेव अपने वीतरागी केवलज्ञान द्वारा एक समय में जानते हैं, और जैसा जानते हैं उसी प्रकार दिव्यवाणी द्वारा कहा जाता है; उसमें अपनी कल्पना से तू यदि कुछ भी खींचातानी करेगा तो एक भी सत्य न्याय तेरी समझ में नहीं आयेगा, उल्टी तेरे अज्ञान की पुष्टि होगी। अनादि से जीव अनेकान्त-मार्ग को ही नहीं समझा है, अनेकान्त के नाम से एकान्त मान्यताओं का ही सेवन किया है। निश्चय से ऐसा है और व्यवहार से वैसा है—इसप्रकार शास्त्र की बातें करके ऐसा मान बैठता है कि हम भी अनेकान्त के ज्ञाता हैं; किन्तु मात्र शास्त्र का ज्ञातृत्व अनेकान्तमार्ग नहीं है; परन्तु राग, भंग-भेद इत्यादि सर्व व्यवहारपक्ष का निषेध करके परमार्थ आत्म-स्वभाव की ओर उन्मुख होकर वहाँ जो ज्ञान अभेद होता है वही अनेकान्त है, और वही प्रमाण है। शास्त्रज्ञान से निश्चय और व्यवहार की बात तो जाने, किन्तु यदि व्यवहार का निषेध करके निश्चयस्वभाव में परिणमित न हो तो सम्यग्ज्ञान नहीं होगा और अनादि का जो एकान्त पक्ष है वह दूर नहीं होगा।

(१२५) ज्ञाताभाव

केवलज्ञान में छहों द्रव्य ज्ञात होते हैं; किन्तु ज्ञान कहीं

उन द्रव्योंरूप नहीं हो जाता, ज्ञान तो सदैव उनसे भिन्न ही रहता है। जैसे—कूड़ा-कचरा इत्यादि गंदी वस्तुओं को जानने से आंख कहीं मैली नहीं हो जाती, अथवा अग्नि को जानने से आंख जल नहीं जाती, उसी प्रकार ज्ञेय पदार्थों को जानने से ज्ञान कहीं उन पदार्थों रूप नहीं हो जाता, ज्ञान तो ज्ञानरूप ही रहता है। जो ऐसा समझते हैं वे ज्ञेय ज्ञायकभाव का भेद-ज्ञान करके अपने ज्ञानस्वभाव में एकाग्र होते हैं, किन्तु जिन्हें ऐसा भेदज्ञान नहीं है वे जीव ज्ञाताभाव को भूलकर पर-पदार्थों में एकत्वबुद्धि करते हैं, और उन्हें इष्ट—अनिष्ट मानते हैं इससे उनके अपने स्वभाव में प्रवृत्तिरूप सम्यक्चारित्र नहीं होता किन्तु पर-पदार्थों को जानने से 'इसमें सुख है'—ऐसी मिथ्या-बुद्धिपूर्वक परद्रव्य में राग-द्वेष प्रवर्तमान है—उसका नाम मिथ्याचारित्र है।

(१२६) सभी जीवों को चारित्र का अंश प्रगट है

श्री पंडित बनारसीदासजी ने उपादान-निमित्त की चिट्ठी में व्याख्या में कहा है कि जीव की सर्व अवस्थाओं में (निगोद में भी) विशुद्धरूप चारित्र होता है; यहाँ कषाय की मन्दता को विशुद्धरूप चारित्र कहा है। वह चारित्र की गर्भित शुद्धता है, किन्तु जबतक भेदज्ञान न हो तबतक वह मोक्षमार्गरूप नहीं है। भेदज्ञान होने से चारित्र की शुद्धता का अंश प्रगट होता है और वह मोक्षमार्गरूप होता है।

यदि निगोद में भी चारित्र का अंश न हो, अर्थात् यदि वहाँ चारित्र की विशुद्धि का सर्वथा अभाव ही हो तो उस

अभाव में से वृद्धि नहीं हो सकती। किन्तु यदि विशुद्धि के अंश का सद्‌भाव हो तो उसमें वृद्धि होकर पूर्णता होती है। एक गुण दूसरे गुण की वृद्धि नहीं कर सकता, किन्तु गुण की विशुद्धि का अंश ही गुण की शुद्धि का कारण है। गुण की विशुद्धि का अंश तो होता ही है; यदि वैसा न हो तो गुण का ही नाश हो जायेगा।

(१२७) सर्वव्यापक अनेकान्त

इस जगत में अनन्त आत्मा हैं, प्रत्येक आत्मा में अनन्त गुण हैं और उस प्रत्येक गुण की अनन्त पर्यायें हैं। एक आत्मा के ज्ञानगुण की एक सम्पूर्ण दशा वह केवलज्ञान है। अपने स्वरूप में स्थिर रहकर वह केवलज्ञान एक समय में तीन काल और तीन लोक को प्रत्यक्षरूप जानता है। और जितने पदार्थ हैं उनसे अनन्तगुने होते तो भी उन्हें जानने का सामर्थ्य केवलज्ञान में है।

आत्मा अनन्त हैं, उनमें एक आत्मा दूसरे आत्मारूप नहीं है, अर्थात् प्रत्येक आत्मा अपने स्वरूप में है और अन्य के स्वरूप में नहीं है। एक आत्मा के अनन्त गुणों में भी प्रत्येक गुण अपनेरूप से है और अन्य गुणरूप से नहीं है। एक गुण की अनन्त पर्यायें हैं, उनमें भी प्रत्येक पर्याय स्व-तंत्र है, प्रत्येक पर्याय अपनेरूप से है और पररूप से नहीं है। और प्रत्येक पर्याय में जो अनन्त अविभागप्रतिच्छेद अंश हैं वे भी प्रत्येक स्वयं से (अपनेरूप से) अस्तिरूप और पर से नास्तिरूप हैं। इसप्रकार प्रत्येक अविभागअंश अनेकान्त

स्वरूप है, सभी अनेकान्तमय है अर्थात् अनेकान्त सर्वव्यापक है। ज्ञान की पर्याय के अनन्त अविभाग अंशों में से प्रत्येक अविभाग अंश का कार्य स्वतंत्र ही है, एक अंश दूसरे अंश रूप नहीं होता, तथा एक अंश दूसरे का कार्य नहीं करता। इसमें भी अनेकान्त है।

(१२८) अनेकान्त का फल वीतरागता

अहो! अनेकान्त में कितनी स्वतंत्रता है! अनेकान्त का अर्थ ही स्वयं से पूर्णता और अन्य से भिन्नता है। वस्तु का जैसा परिपूर्ण निरपेक्ष (अस्ति-नास्ति) स्वरूप है, वैसा ही अनेकान्त द्वारा ज्ञात होता है। यदि अनेकान्त को समझे तो ऐसा जान ले कि अपना स्वरूप स्वयं से अस्तिरूप और पर से नास्तिरूप है। ऐसा है तो फिर स्वयं पर में क्या करेगा? और पर-पदार्थ अपने में क्या करेंगे? कुछ भी नहीं कर सकते। ऐसा समझने से पर पदार्थों का अहंकार नष्ट होकर, उनसे वास्तविक उदासीन होकर, स्वयं अपने स्वभाव की महिमा करके उसी में रत (लीन) होता है और वीतरागता प्रगट होती है। इसप्रकार अनेकान्त का फल वीतरागता है।

(१२९) आत्मस्वभाव की ही महिमा और जैनदर्शन का प्रयोजन

यह जो कुछ भी कहा जाता है उस सबका तेरे आत्मा में ही समावेश होता है। द्रव्य-गुण-पर्याय और उनके प्रत्येक अंश की स्वतंत्रता; अस्ति-नास्तिरूप अनेकान्त, स्व से पूर्णता, पर से नास्ति ऐसा तेरा स्वभाव ही है। जो कहा जाता है वह तेरा

स्वभाव ही है, पर की महिमा नहीं है, सर्वज्ञ की वाणी को महिमा नहीं है, किन्तु वास्तव में आत्मस्वभाव की ही महिमा है। सर्वज्ञ की वाणी में भी जो आत्मस्वभाव है उसीका वर्णन किया है, नवीन कुछ भी नहीं कहा।

हे जीव! जैनदर्शन महाभाग्य से प्राप्त किया है, अब तू अपनी अन्तर ऋद्धि-सिद्धि का भंडार तो देख! सर्वज्ञ की दिव्य-वाणी के अतिरिक्त अन्य कोई जिसे सम्पूर्ण कहने में समर्थ नहीं है, और सर्वज्ञ के शासन में सम्यग्ज्ञानियों के अतिरिक्त कोई भी जिसे यथार्थरूप से समझने में समर्थ नहीं है—ऐसा तेरा अन्तरस्वभाव है। किन्तु कभी अपने स्वभाव की महिमाको नहीं जाना इसलिये इधर-उधर के परपदार्थों की महिमा करके रुक जाता है। अहो! आत्मा की महिमा अपरम्पार है और उसे जानने वाले ज्ञान का सामर्थ्य भी अपार है। सर्वज्ञ की वाणी में और जैनशासन में जितना भी वर्णन है वह आत्मस्वभाव को समझने के लिये ही है। इस वर्णन को पर का नहीं समझना, किन्तु ऐसा समझना चाहिये कि अपने ज्ञान-स्वभावसामर्थ्य का ही वह वर्णन है। जहाँ छह द्रव्य अथवा नवतत्त्वों का वर्णन आये वहाँ तुझे ऐसा समझना चाहिये कि उन सबको जानने की मेरे ज्ञानस्वभाव की जो शक्ति है, उसी का यह वर्णन है। इसप्रकार अपने स्वभाव की महिमा लाकर—श्रद्धा करके उसी में स्थिर होना जैनदर्शन का प्रयोजन है। अनन्त शास्त्र और दिव्यध्वनियों का सार यही है कि अपने चैतन्यस्वरूप आनन्दमय आत्मा को पहिचानकर उसमें स्थिर हो!

(१३०) 'सर्व गुणांश सो सम्यक्त्व' का क्या अर्थ ?

सम्यग्दर्शन होने से आत्मा के समस्त गुण निर्मलतारूप परिणमन करने लगते हैं; सम्यग्दर्शन की व्याख्या 'सर्व गुणांश सो सम्यक्त्व'–ऐसी भी की जाती है। इस व्याख्या में गुणभेद को गौण करके, समस्त गुणों की अभेद-विवक्षा की मुख्यता से कथन किया है। समस्त गुणों की निर्मलता का अंश सो सम्यक्त्व कहा है; समस्त गुण तो मलिन नहीं हैं; आत्मा के जो अनन्त गुण हैं वे सभी विकाररूप परिणमित नहीं होते; किन्तु कुछ ही विकाररूप परिणमित होते हैं; और कितने ही गुणों का तो ऐसा स्वभाव है कि वे कभी भी विकाररूप परिणमित नहीं होते, किन्तु शुद्ध ही रहते हैं। अस्तित्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व इत्यादि गुण शुद्धरूप ही परिणमित होते हैं। इसप्रकार कितने ही गुण तो शुद्ध ही होने पर भी "सर्व गुणांश सो सम्यक्त्व"–ऐसा कहा है, उसका कारण यह है कि जो गुण शुद्धरूप ही परिणमन करते हैं उन गुणों के स्वभाव को भी अज्ञानी जीव नहीं पहिचानते, क्योंकि यदि गुणों के स्वभाव को जानें तो गुणी आत्मा के स्वभाव को भी जानें। जब जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करता है तब उसे सम्पूर्ण स्वभाव की प्रतीति होती है और इसलिये वह अभेदरूप से आत्मा के सर्व गुणों को जानता है, इसलिये उसके सभी गुण निर्मल परिणमित होते हैं ऐसा कहा है। भले ही, कितने ही गुण तो पहले–अज्ञानदशा के समय भी शुद्ध परिणमन करते थे, किन्तु अज्ञानदशा में स्थित जीव को उसकी खबर नहीं थी और ज्ञानदशा होते ही

पुनः अज्ञानी हुआ, तो उस समय उस जीव के ज्ञान को मिथ्याज्ञान नहीं कहना चाहिये, क्योंकि एकवार तो उसे सम्यग्ज्ञान हो गया है, इसलिये उसका ज्ञान अनादि-अज्ञानी के मिथ्याज्ञान जैसा नहीं हो जाता, किन्तु कुछ अन्तर पड़ता है ?

उत्तरः—एकवार सम्यग्ज्ञान होने के पश्चात् च्युत होकर जो अज्ञानी हुआ है उसका ज्ञान तो मिथ्या ही है। और उस जीव की अपेक्षा से तो उसके पहले के मिथ्याज्ञान में और इस समय के मिथ्याज्ञान में अन्तर नहीं है, क्योंकि वर्तमान में तो उसे कुछ भी भान नहीं है कि पूर्व में मेरे ऐसा सम्यग्ज्ञान प्रवर्तमान था। अब, केवली भगवान के ज्ञान की अपेक्षा से देखें तो—उस जीव की अनादि की मिथ्याज्ञानदशा को, तत्पश्चात् सम्यग्ज्ञानदशा को और वर्तमान मिथ्याज्ञानदशा को —इन तीनों दशाओं को केवली भगवान जानते हैं और यह भी जानते हैं कि—भविष्य में अमुक समय वह जीव, उस अज्ञानदशा को दूर करके अवश्य ही सम्यग्ज्ञानदशा रूप परिणमित होने वाला है, अर्थात् अनादि का जो मिथ्याज्ञान था और वर्तमान में जो मिथ्याज्ञान है उनमें किसी प्रकार से अन्तर है—इसप्रकार केवली भगवान जानते हैं। उस जीव का ज्ञान जैसा पूर्व में था, वैसा ही सर्व प्रकार से नहीं है, कुछ अन्तर पड़ गया है, और वैसा ही केवली भगवान जानते हैं; किन्तु उस जीव को स्वयं उसकी खबर नहीं है। यदि वह जीव स्वयं उस अन्तर को पकड़ सकता हो तो उसके मिथ्याज्ञान न रहे, किन्तु सम्यग्ज्ञान ही हो जाये।

यद्यपि केवली भगवान की अपेक्षा से उस जीव के पर्व

के मिथ्याज्ञान में और वर्तमान मिथ्याज्ञान में कुछ अन्तर होना कहा है, परन्तु उससे ऐसा नहीं समझना चाहिये कि जो वर्तमान ज्ञान है वह मिथ्याज्ञान नहीं है। जिसप्रकार पूर्व का ज्ञान मिथ्याज्ञान था वैसे ही वर्तमान ज्ञान भी मिथ्याज्ञान ही है। केवली भगवान भी ऐसा ही जानते हैं कि वर्तमान में इस जीव के मिथ्याज्ञान है।

(१३३) जैनदर्शन के शास्त्रों का भाव समझने के लिये लक्ष्य में रखने योग्य नियम

(१) जैनदर्शन अनेकान्तस्वरूप है। वह प्रत्येक वस्तु को अनेक स्वरूप बतलाता है। प्रत्येक तत्त्व अपने स्वरूप में अस्ति-रूप और पर के स्वरूप से नास्तिरूप है। यह अनेकान्त ही वस्तु के स्वरूप को समझने का उपाय है। इसीसे जैनदर्शन की महत्ता है।

(२) प्रत्येक तत्त्व स्वतंत्र है, स्वयं अपने से अस्तिरूप है और पर से नास्तिरूप है। जिसमें जिसकी नास्ति हो उसमें वह कुछ भी नहीं कर सकता; इसलिये कोई भी तत्त्व किसी अन्य तत्त्व का कुछ भी करने में कभी समर्थ नहीं है।

(३) समस्त द्रव्य एक-दूसरे से भिन्न होने से उनके गुण और पर्यायें भी त्रिकाल भिन्न-भिन्न ही हैं और प्रत्येक द्रव्य के गुण-पर्याय स्वयं अपने द्रव्य के ही आधार से हैं, किसी भी द्रव्य के गुण-पर्याय कभी भी किसी अन्य द्रव्य के आधार से नहीं हैं।

(४) जीव स्वयं अनन्त पर पदार्थों से भिन्न है, इसलिये कोई पर पदार्थ जीव को लाभ-हानि नहीं कर सकते; जीव का पुरुषार्थ स्वतंत्र है। जगत के सर्व द्रव्य स्व से अस्तिरूप और पर से नास्तिरूप—इसप्रकार अनेकान्तस्वरूप हैं, इसी अनेकान्त द्वारा वस्तुस्वरूप की स्वतंत्रता और पूर्णता है। ऐसा भेदज्ञान कराके जैनदर्शन आत्मस्वभाव के साथ एकता कराता है और पर के साथ जो सम्बन्ध है उसे छुड़ाता है।

(५) जैनदर्शन के शास्त्र का कोई भी कथन हो उसका मूल प्रयोजन वीतरागभाव ही है। उस प्रयोजन को अखण्ड रखकर ही जैनशास्त्रों का अर्थ समझना चाहिये।

उपरोक्तानुसार पाँच नियम बराबर लक्ष्य में रखकर यदि सत्‌शास्त्रों का अर्थ समझा जाये तभी उनका सच्चा रहस्य समझ में आता है। कोई भी शास्त्र हो, उसमें चाहे निश्चयनय का कथन हो या व्यवहारनय का, किन्तु उसका सच्चा भावार्थ समझने के लिये उपरोक्त नियम लक्ष्य में रखकर उनका अर्थ करना चाहिये।

यदि अस्ति-नास्तिरूप अनेकान्त के मर्म को समझकर सत् शास्त्रों का अर्थ करे तो शास्त्ररूपी समुद्र का पार पा जाये—शास्त्र के चाहे जैसे कथन में भी वह आकुलित न हो। और यदि अनेकान्त के यथार्थ मर्म को न जाने तथा एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में कुछ करता है,—इत्यादि प्रकार से पक्ष रखकर शास्त्र पढ़े तो वह शास्त्र के अनेक विवक्षाओं के कथन को नहीं सुलझा सकेगा; उसी शास्त्र के कथन को लेकर वहीं आकुलित

हो जायेगा अर्थात् उसका ज्ञान मिथ्या रहेगा, वह शास्त्र में कहे हुए ज्ञानियों के आशय को नहीं समझ सकेगा।

(१३४) सम्यक्चारित्र

आत्मा का स्वभाव ज्ञाता–दृष्टा है। ज्ञाता–दृष्टापने में राग द्वेष नहीं होता, अर्थात् ज्ञाता–दृष्टा स्वभाव और राग-द्वेष भिन्न हैं; इसप्रकार भेदज्ञान करके, किसी पर द्रव्य में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि न करना किन्तु राग-द्वेषरहित ज्ञाता-दृष्टा रहना उसका नाम सम्यक्चारित्र है। अथवा ज्ञाता–दृष्टा स्वभाव को राग से भिन्न जानकर उसमें सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति और राग से निवृत्ति सो सम्यक्चारित्र है। वह आत्मा का ही वीतरागभाव है और वह सुखरूप है। मेरा स्वभाव सुखरूप है, किसी भी संयोगी पदार्थ या संयोगी भाव में मेरा सुख नहीं है, मैं असंयोगी स्वयंसिद्ध ज्ञाता-दृष्टा वस्तु हूँ, आत्मा हूँ, और मुझमें ही मेरा सुख है;–इसप्रकार जो स्वरूप को नहीं जानता उस जीव के स्वभाव में प्रवृत्ति नहीं होती किन्तु परभाव में ही उसकी प्रवृत्ति होती है। स्वभाव में प्रवृत्ति सो सम्यक्चारित्र है और परभाव में प्रवृत्ति सो मिथ्याचारित्र है। राग के द्वारा जीव को समाधान और शान्ति नहीं होते किन्तु स्वरूप-एकाग्रता करने से ही वीतरागभाव और सर्व समाधान–शांति सहज होते हैं। सर्व समाधानस्वरूप मोक्ष है।

(१३५) पदार्थों का परिणमन स्वतंत्र है

जीव का स्वभाव तो ज्ञाता–दृष्टा है, किन्तु स्वयं स्वभाव को भूलकर ज्ञाता–दृष्टा नहीं रहता; पर द्रव्यों को जानने

से स्वयं को उनका कर्ता मानकर उनमें परिवर्तन करना चाहता है, और व्यर्थ राग-द्वेष भाव करके व्याकुल होता है; क्योंकि इस जीव के करने से पर द्रव्यों में कुछ भी फेरफार नहीं होता। समस्त द्रव्य स्वयं अपने स्वभावरूप परिणमित होते हैं, कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कर्ता है ही नहीं।

किसी समय जीव जैसी इच्छा करता है उसी प्रकार पदार्थों में परिणमन होता है तो भी वहाँ उन पदार्थों का परिणमन जीव के करने से नहीं हुआ है किन्तु स्वयं उनके स्वभाव से हुआ है। तथापि जिस प्रकार चलती हुई गाड़ी को धकेल कर बालक ऐसा मानते हैं कि हम इस गाड़ी को चला रहे हैं, अथवा गाड़ी के नीचे चलने वाला कुत्ता ऐसा मानता है कि मैं इस गाड़ी के भार को उठा रहा हूँ—उसी प्रकार यह जीव भी पर-पदार्थों को जानने से ऐसा मानता है कि मैं इन पदार्थों का परिणमन करता हूँ; यह मान्यता असत्य है। यदि गाड़ी उनके (बालकों या कुत्ते के) चलाने से चलती है, तो जब वह नहीं चल रही हो तब वे उसे क्यों नहीं चला सकते? इसलिये जब वह चलती है उस समय भी उनसे नहीं चलती किन्तु स्वयं से चलती है। उसीप्रकार प्रत्येक पदार्थ प्रति समय परिणमन कर ही रहा है। किसी-किसी समय अपनी इच्छानुसार उसका परिणमन देखकर अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि इस परिणमित द्रव्य को मैं परिणमित करता हूँ; किन्तु परिणमित होने वाला पदार्थ स्वयं अपने स्वभाव से ही परिणमन करता है ऐसा नहीं मानता। यदि तेरे परिणमित करने से पदार्थ परिणमित होता हो तो जब वह पदार्थ तेरी इच्छानुसार परिणमन नहीं

करता हो उस समय तू क्यों उसे परिणमित नहीं करता? इसलिये ऐसा समझ कि वह पदार्थ निरन्तर अपने सामर्थ्य से ही परिणमित होता है—मुझसे नहीं। कदाचित् योगानुयोग इच्छानुसार परिणमन बन जाये तो भी वे पदार्थ उनके कारण से वैसे परिणमित हुए हैं। यदि कोई भी पदार्थ अपने परिणमित करने से परिणमित नहीं होता तो फिर कषाय करने से क्या होगा? मात्र स्वयं दुःखी होता है। इसप्रकार जो समझ ले उसके कषाय करने का अभिप्राय दूर हो जाता है।

(१३६) कोई भी पर पदार्थ इष्ट-अनिष्ट नहीं है

पुनश्च, किन्हीं भी पदार्थों में तो इष्ट-अनिष्टपना है ही नहीं; क्योंकि यदि पदार्थ ही स्वयं इष्ट या अनिष्ट हों तो जो पदार्थ इष्ट हो वह सबको इष्टरूप लगे और अनिष्ट हो वह सभी को अनिष्टरूप प्रतीत हो; किन्तु ऐसा तो है ही नहीं। मात्र यह जीव स्वयं ही राग-द्वेष द्वारा उनमें इष्टता-अनिष्टता की कल्पना करता है, वह कल्पना मिथ्या है। जीव का स्वभाव तो मात्र ज्ञान करने का है, किन्तु पदार्थों की इष्ट-अनिष्ट कल्पना करना जीव का स्वभाव नहीं है।

(१३७) जो आत्मप्रतीति नहीं करते और बहाना बनाते हैं वे वेदिया—मूर्ख हैं; प्रतीति के लिये सदैव मांगलिक-काल ही है।

आत्मतत्त्व की प्रतीति वर्तमान में ही करना योग्य है, ऐसे पवित्र कार्य में क्षणमात्र की अवधि बढ़ाना योग्य नहीं है। जिन्हें आत्मा का प्रयोजन नहीं है ऐसे मूर्ख अज्ञानी जीव

ऐसा मानते हैं कि इस समय अमुक बाह्यकार्य कर लेने दो, अथवा इस समय पुण्य कर लेने के बाद भविष्य में यथार्थ प्रतीति करेंगे, वे वर्तमान में ही आत्मप्रतीति का अनादर कर रहे हैं। अरे भाई! अनन्तान्तकाल से संसार समुद्र में गोते खा रहा है और इस समय सत्समागम से आत्मस्वभाव समझकर संसार-समुद्र से पार होने का अवसर आया है इस समय समझने से जी चुराना मूर्खता है। आत्मस्वभाव शुद्ध परिपूर्ण है ऐसा ज्ञानी बतलाते हैं; वह तो समझता नहीं है, और 'शास्त्र में क्या कहा है, वह देख लूँ' ऐसा जो मानता है उसे शास्त्र का अभ्यास हो गया है, वह 'वेदिया ज्योतिष' की भाँति मूर्ख है।

वेदिया ज्योतिष का दृष्टान्त:—एकबार एक कुएँ में कोई स्त्री गिर पड़ी। वहाँ बहुत से ज्योतिषी लोग आकर इकट्ठे हो गये और स्त्री को कुएँ से निकालने का विचार करने लगे। एक व्यक्ति बोला कि इस समय उस स्त्री को कुएँ में से निकालने के लिये मुहूर्त अच्छा है या नहीं यह देख लो। दूसरे ने कहा—हाँ, यह बात ठीक है पहले यह निश्चित् कर लो कि स्त्री का नाम कौन सी राशि में है। और फिर एक-दो व्यक्ति तो गांव में से ज्योतिष का पोथा लेने दौड़े। कोई तो अपने रटे हुए श्लोकों में से कौन लागू पड़ता है उसे याद करने लगे, किसी ने स्त्री से उसकी हालत पूछना प्रारम्भ किया कि तुम्हारा नाम क्या है? कितने बजे कुएँ में गिरी? इत्यादि। किन्तु स्त्री बोली : अरे भाई! पहले मुझे बाहर तो निकाल लो, मैं मर जाऊँगी। तब वेदिया ज्योतिष

पण्डित कहने लगे—धीरज रख, अपने ज्योतिषशास्त्र का नियम तो पहले मिला लेने दे, अभी अच्छा चौघड़िया देखकर तुझे निकालते हैं। उसी समय वहाँ पर कोई बुद्धिमान मनुष्य आ पहुँचा और ज्योतिषियों से बोला : अरे मूर्खों ! क्या यह समय भी ज्योतिष देखने का है ? ऐसा कहकर अपने सिर पर बंधी हुई पगड़ी को उकेल कर कुएँ में डाला और प्रयत्न करके स्त्री को बाहर निकाल लिया। उसीप्रकार आत्मस्वभाव को समझने के अवसर पर अज्ञानी कहते हैं कि अभी काल कौन सा है ? इस काल में मुक्ति है या नहीं ? कर्म कैसा है ? शास्त्र में क्या-क्या कहा है ?—इसप्रकार सभी पराश्रय को ढूँढ़ते हैं। किन्तु ज्ञानी उनसे कहते हैं कि अरे भाई ! यह सुअवसर—सुकाल गँवाने का नहीं है। तुझे काल से क्या काम है ? तू जिस समय समझ ले उसी समय तुझे मांगलिक काल ही है। तेरी मुक्ति तेरे आत्मस्वभाव में से प्रगट होती है इसलिये उसका निर्णय कर। और कर्म कैसे हैं—यह देखने का तुझे प्रयोजन है, या यह समझना है कि तेरा चैतन्य-स्वभाव कैसा है ? शास्त्रों में अनेक अपेक्षाओं से कथन होता है, उसमें स्वच्छन्दता से तेरा कहीं भी मेल नहीं बैठेगा; किन्तु ज्ञानी कहते हैं कि हजारों-लाखों शास्त्रों के कथन में एक चैतन्यस्वरूप आत्मा की ही प्रतीति का तात्पर्य है। शास्त्ररूपी समुद्र के मंथन से एक चैतन्यरत्न ही प्राप्त करना है। इस-लिये हे भाई ! ऐसे अवसर पर तू उलटे-सीधे दुर्विकल्पों में न रुककर सत्पुरुषों के कथनानुसार अपने स्वभाव को समझ। यदि तू अपने स्वभाव को पहिचाने तो तेरा उद्धार हो सकता

है, अन्य किसी भी जानकारी से तेरे आत्मा का उद्धार नहीं है।

यहाँ पर ऐसा नहीं समझना चाहिये कि शास्त्राभ्यास का निषेध किया है; शास्त्राभ्यास का निषेध नहीं है किन्तु उसका प्रयोजन आत्मस्वभाव को समझने का है। यदि आत्मस्वभाव को न समझे तो शास्त्रज्ञान जीव को मात्र मन के भार-रूप है।

(१३८) सच्ची विद्या

इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त आता है:—एकबार एक मनुष्य नाव में बैठकर उस पार जा रहा था। उसने नाविक से पूछा—नाविक भाई! तुझे ज्योतिष विद्या आती है? नाविक ने उत्तर दिया—नहीं। फिर पूछा—कविता बनाना आता है? नाविक ने कहा—नहीं। इसप्रकार अनेक प्रश्न किये, तब अन्त में नाविक बोला भाई मुझे यह सब कुछ नहीं आता, मैं तो नाव चलाना और पानी में तैरना—यह दो कलाएँ जानता हूँ। तब वह मनुष्य अपनी बुद्धिमानी बतलाकर कहने लगा—मुझे तो यह सब आता है, तूने कुछ नहीं सीखा! अपने सभी वर्ष पानी में ही खो दिये। इसबार नाविक कुछ न बोला। कुछ ही आगे बढ़े कि नाव में एकाएक पानी भर गया और वह डूबने लगी। तब नाविक ने उस मनुष्य से पूछा—भाई! यह नौका तो डूबने वाली है; तुम्हें ज्योतिष आदि विद्याएँ आती हैं यह तो मैंने जान लिया, किन्तु यह कोई बुद्धिमानी यहाँ काम आनेवाली नहीं है; तुम्हें तैरना आता है या नहीं?

उस मनुष्य को तैरना नहीं आता था; इसलिये हाय हाय करने लगा, रोने-चिल्लाने लगा। तब नाविक ने कहा—कहो अब किसके वर्ष पानी में जायेंगे ? मैं तो तैरकर किनारे पहुँच जाऊँगा, किन्तु तुम्हें तैरना नहीं आता इसलिये तुम और तुम्हारी सभी विद्याएँ पानी में ही जाएँगी।

उसीप्रकार अज्ञानी जीव सम्यग्दर्शनरूपी तैरने की कला नहीं जानते और ज्ञानी उस कला को बराबर जानते हैं। अज्ञानी कहते हैं कि हमें तो कर्मप्रकृति का बराबर ज्ञान है और आध्यात्मिक शास्त्रों के श्लोक तो हमारी जीभ पर ही रखे रहते हैं; तथा व्रत—तपादि भी बहुत करते हैं। किन्तु ज्ञानी कहते हैं कि भाई! तुमने यह सब भले जान लिया, किन्तु आत्मानुभव को जाना है या नहीं ? इसके बिना तुम्हारी किसी भी कला से संसार का अन्त नहीं आयेगा, यह कोई भी कलाएँ तुम्हें आत्मशान्ति देने में समर्थ नहीं हैं। अल्पकाल में ही जीवन पूर्ण होने से संसार-समुद्र में डूब जाओगे और तुम्हारी सभी जानकारी अस्त हो जायेगी। ज्ञानी भले ही कर्मप्रकृति आदि को बहुत न जानते हों, स्मरणशक्ति भी अधिक न हो और व्रत-तप भी उनके नहीं हों, किन्तु आत्मानुभव की मूलभूत कला वे बराबर जानते हैं; उनके जीवन पूर्ण होने के समय आत्मानुभव की शान्ति बढ़ जाती है और उसी सत्‌विद्या के द्वारा वे अल्पकाल में संसार-समुद्र से पार हो जाते हैं। इसलिये वही सच्ची विद्या है।

इससे ऐसा समझना चाहिये कि मूल प्रयोजनभूत आत्म-तत्त्व का ज्ञान प्रथम करना चाहिये। आत्मस्वभाव के [illegible]

यदि विशेष शास्त्राभ्यास और स्मरणशक्ति हो तो वह उत्तम है। आत्मज्ञान सहित विशेष शास्त्राभ्यास का निषेध कहीं पर नहीं है, किन्तु कदाचित् किसी जीव को उसप्रकार का विशेष ज्ञान न हो तो भी, उसे यदि आत्मा को ज्ञान हो तो उसका आत्मकल्याण नहीं रुकता। और यदि आत्मस्वभाव की पहिचान न करे तो वैसे जीव को हजारों शास्त्रों का अभ्यास भी व्यर्थ है—आत्मकल्याण का कारण नहीं है। जीव यदि मात्र शास्त्रज्ञान करने में ही लगा रहे, परन्तु शास्त्र की ओर के विकल्पों से पर—ऐसा जो चैतन्य आत्मस्वभाव है, उस ओर उन्मुख न हो तो उसके धर्म नहीं होता, सम्यग्ज्ञान नहीं होता। अज्ञानी जीव ग्यारह अंग पढ़ ले, किन्तु उससे उसे किंचित् आत्मलाभ नहीं है। इसलिये ज्ञानीजन यही कहते हैं कि सर्वप्रथम सम्यक् पुरुषार्थ के द्वारा आत्मस्वरूप को जानो, उसी की प्रतीति—रुचि—श्रद्धा और महिमा करो। समस्त तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि का और सभी सत्शास्त्रों के कथन का सार यही है।

(१३६) आत्मा के साथ क्या रहता है ? आत्मा का क्या है ?

प्रश्नः—आत्मा के साथ क्या रहता है ?

उत्तरः—आत्मा ज्ञानस्वरूप है इसलिये ज्ञान ही उसके साथ रहता है। राग आत्मा का स्वरूप नहीं है, इसलिये वह सदैव आत्मा के साथ नहीं रहता, किन्तु पहले क्षण का राग दूसरे ही क्षण छूट जाता है। एक ही प्रकार का राग आत्मा के साथ

५० वर्ष तक नहीं रह सकता किन्तु ज्ञान नित्य रह सकता है। इसलिये राग आत्मा का स्वरूप नहीं किन्तु ज्ञान ही आत्मा का स्वरूप है, इससे ज्ञान ही आत्मा के साथ रहता है। ऐसा होने से ज्ञान और राग भिन्न सिद्ध हुए। अब, यदि ऐसा जानकर ज्ञान अपने स्वभाव में एकाग्र हो तो वह सदा आत्मा के साथ ही रहता है,—एक गति से दूसरी गति में जाने पर भी वह ज्ञान दूर नहीं होता; किन्तु यदि राग के साथ ज्ञान का एकत्व माना हो तो, जैसे राग नाशवान है वैसे ही वह एकत्वबुद्धिवाला ज्ञान भी नाश को प्राप्त होता है। यदि आत्मानुभव द्वारा स्वभाव की ओर का ज्ञान करके सम्यग्ज्ञान किया हो तो वह ज्ञान आत्मा के साथ अभेद होने से निरन्तर आत्मा के साथ ही रहता है; क्योंकि वह ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। और जो ज्ञान आत्मस्वभाव को न जाने, मात्र पर को जानने में लगा रहे तथा चैतन्य स्वभाव के साथ अभेदत्व न करके राग में एकता करे; वह ज्ञान आत्मा के साथ नहीं रहता; क्योंकि स्वभाव को भूलकर पर को जानना वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। इसलिये वह ज्ञान आत्मा के साथ सदैव स्थिर नहीं रहता, किन्तु अल्पकाल में ही नष्ट हो जाता है; अर्थात् परलक्ष्य से किया हुआ ज्ञान का विकास अल्पकाल में ही अस्त हो जाता है।

यदि यथार्थ रीति से स्वभाव को जाने तो सम्यग्ज्ञान हो, वह ज्ञान आत्मा साथ ले जाता है; और यदि स्वभाव को विपरीत प्रकार से माने तो स्वसम्बन्धी विपरीतज्ञान (मिथ्या- हो, वह साथ में ले जाता है; अर्थात् ज्ञानी के परि-

णाम सदा ज्ञानमय और अज्ञानी के परिणाम सदा अज्ञान-मय उत्पन्न होते हैं। आत्मा का अपने ज्ञान के साथ सम्बन्ध है, किन्तु पर वस्तुओं के साथ आत्मा का सम्बन्ध नहीं है; वे तो आत्मा से भिन्न ही हैं। पर वस्तुएँ कभी भी आत्मा के साथ नहीं जातीं और न आत्मा उन्हें ले जा सकता है। वर्तमान में भी आत्मा शरीरादि अन्य द्रव्यों में एकत्रित (एक-मेक) नहीं है किन्तु उनसे पृथक् ही है। जिसकी दृष्टि चैतन्य-तत्व पर नहीं है किन्तु जड़ शरीर के ऊपर है, उसे अपनी विपरीत दृष्टि के कारण एकमेकता प्रतीत होती है, किन्तु वास्तव में वैसा नहीं है।

(१४०) ज्ञानी की दृष्टि में...और अज्ञानी की दृष्टि में...

ज्ञानी कहते हैं कि चैतन्यतत्त्व और जड़ तत्त्व सदा भिन्न ही हैं; चैतन्य आत्मा और जड़ शरीर के एकत्व का हम कभी भी अनुभव नहीं करते-जानते नहीं हैं। अज्ञानी और निगोददशा में स्थित आत्मा भी शरीरादि से भिन्न स्वभाव वाले चैतन्य-स्वरूपी हैं—ऐसा ही हमारे जानने में आता है। अज्ञानीजन कहते हैं कि–चैतन्य आत्मा और जड़ शरीर कभी भी भिन्न हमारे अनुभव में आते ही नहीं हैं,–हमें तो चैतन्य और जड़ का एकत्व ही प्रतिभासित होता है। अज्ञानी की इस विपरीत मान्यता की शल्य ही उसे चैतन्यस्वभाव का अनुभव करने से रोकती है।

चैतन्य और जड़ सदा भिन्न ही हैं, तथापि अज्ञानी

उन्हें एकमेकरूप से मानते हैं। ज्ञानी कहते हैं कि—अज्ञानी भले ही अपने आत्मा को जड़ के साथ एकमेक मानें तो भी उनका आत्मा कभी जड़ के साथ एकमेक हुआ ही नहीं, किन्तु जड़ से भिन्न चैतन्यस्वरूपी ही है—ऐसा हम अपने ज्ञान में प्रगट जानते हैं।

(१४१) सभी जीवों को सुखी होने का एक उपाय—यथार्थ प्रतीति

सभी आत्मा चैतन्यस्वरूप हैं और उनमें समझने की परिपूर्ण शक्ति है; सभी आत्मा शक्तिरूप से भगवान हैं; किन्तु जीव अनादि से अपने स्वरूप के सामर्थ्य का भान भूला है और अपने को निर्बल, पराधीन मान लिया है, इसीसे अपने स्वरूप से च्युत होकर वर्तमान अवस्था में उस दुःख का वेदन कर रहा है। यदि सत्समागम से अपने स्वरूप की यथार्थ प्रतीति करे तो उसे सुख प्रगट हो और दुःख दूर हो। सर्वप्रथम यथार्थ प्रतीति करना ही सुखी होने का उपाय है, और वही सभी जीवों का प्रथम कर्तव्य है।

यहाँ पर कोई कहे कि—जैसे कोई वैद्य सभी रोगियों को एक ही प्रकार की दवा देता रहे वैसे ही आप तो सबके लिये एक ही उपाय बतलाते हैं! किन्तु जिस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार के रोगियों को भिन्न-भिन्न औषधियाँ देना चाहिये, उसीप्रकार यहाँ भी छोटे-बड़े अनेक प्रकार के जीवों के लिये भिन्न-भिन्न उपाय बताना चाहिये? उसका समाधानः—यहाँ ास्तव में समस्त अज्ञानी जीवों को भिन्न-भिन्न रोग नहीं है,

किन्तु सभी को 'स्वरूप की अप्रतीति' का एक ही प्रकार का रोग है और वह रोग दूर करने के लिये 'स्वरूप की प्रतीति'—यही एक दवा है।

पुनश्च वह कहे कि—'आप तो सबको एक ही करना कहते हैं; किन्तु अभी बालक तो बड़ा हो रहा है, क्या वहीं से धर्म करना प्रारम्भ कर दे? बालकों को प्रथम तो लौकिक शिक्षा लेना चाहिये, फिर संसार-व्यवहार चलाना सीखना चाहिये और पश्चात् अवकाश मिले तो धर्म समझे'—ऐसा कहना चाहिये।' उसके कथन का निम्नोक्त प्रश्नोत्तर द्वारा समाधान किया जाता है।

प्रश्नः—जिससे बालक सुखी हो वह करना चाहिये कि जिससे दुःखी हो वह?

उत्तरः—सुखी हो वह।

प्रश्नः—बालक सच्चा समझे तो सुखी हो, या मिथ्या समझे तो?

उत्तरः—सच्चा समझे तभी सुखी हो सकता है, मिथ्या समझने से दुःखी होगा।

प्रश्नः—यदि यथार्थ समझ से ही सुख होता है तो वह यथार्थ समझ प्रथम से ही करना चाहिये, या पहले मिथ्या समझने के पश्चात् फिर यथार्थ समझना चाहिये?

उत्तरः—पहले से ही यथार्थ समझना होता है। पहले असत् समझकर फिर सत् को समझना—ऐसा नहीं होता। इसलिये बालक या वृद्ध सभी जीवों को सर्व प्रथम यथार्थ

प्रतीति का ही अभ्यास करना चाहिये—वही सुखी होने का मार्ग है।

जब से असत् को असत्‌रूप से जान लिया तभी से असत्य अभिप्राय को छोड़ देना चाहिये। प्रथम विष खाकर उसकी परीक्षा करें, जब वह शरीर में फैल जायेगा तब उसे दूर करने का उपाय करेंगे—ऐसा नहीं होता, किन्तु यह विष है—ऐसा जानने के पश्चात् वह खाया ही नहीं जाता। उसी प्रकार विपरीत मान्यता तो विष से भी बुरी है। पहले विपरीत समझ लें, फिर सत्य समझेंगे—ऐसा कभी नहीं होता। असत् को समझते-समझते सत् की प्रतीति नहीं होती किन्तु असत् की ओर की उन्मुखता छोड़े तो सत् समझ में आता है। असत् को असत् जाना—उसी समय असत् को छोड़कर सत् को समझ लूँ, असत्य का सर्वथा त्याग कर दूँ—ऐसा सत् का ही आदर होता है। इसप्रकार जो सत्य हो वह पहले से ही समझना होता है, और वह नियम तो सभी आत्माओं के लिये एक-सा ही होता है। इसलिये प्रथम सत्-असत् का विवेक करना चाहिये।

मुमुक्षु जीवों को यह विशेष ध्यान रखना चाहिये कि—जिन्होंने सत् का अनुभव किया हो ऐसे 'सत्' पुरुषों के निकट ही सत् का उपदेश मिल सकता है, किन्तु जिन्होंने 'सत्' का अनुभवन ही नहीं किया—ऐसे अज्ञानियों के पास से कभी सत्-उपदेश की प्राप्ति नहीं होती। इसलिये सत्-असत् के विवेक में सद्‌गुरु और असद्‌गुरु का विवेक भी आ ही जाता है।

(१४२) जिज्ञासु को प्रेरणा

जीव अनादिकाल से मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमन कर रहा है, और उसी परिणमन द्वारा संसार में अनेक प्रकार के दुःखों के निमित्त कारणरूप कर्मों का बन्ध होता है; इसलिये यह मिथ्यादर्शनादिक भाव ही दुःख का मूल है, अन्य कोई नहीं। अनादिकाल से मैं अपना स्वरूप भूलकर पर के कर्तृत्व की मान्यता में रुका रहा हूँ, किन्तु अब सत्समागम प्राप्त करके मैं अपना हित कर लूँ; आत्मा क्या है और आत्मा का क्या है—यह विवेक कर लूँ; संसार के पदार्थों का जो होना हो वह हो, उनके काम से मुझे कुछ भी प्रयोजन नहीं है, मुझे तो अपने आत्मकल्याण का उपाय करना है—इसप्रकार हे भव्य जीव ! तू अपने आत्मा में जिज्ञासा कर ! यदि तू दुःखों से मुक्त होने की इच्छा रखता है, तो जिसप्रकार श्रीगुरु स्व-पर का भिन्न-भिन्न स्वरूप समझते हैं, उसीप्रकार जानकर सम्यग्दर्शनादि के द्वारा मिथ्यादर्शनादिक विभावों का अभाव करना—यही कार्य है; इस कार्य के करने से तेरा परम कल्याण होगा।

* पाँचवाँ–छठवाँ अध्याय *

(१४३) तत्त्वस्वरूप को समझाने वाली चौभंगी।

१ : पर-पदार्थ इष्ट या अनिष्ट हैं–ऐसा मानना सो अज्ञान

जो किसी भी परवस्तु को इष्ट या अनिष्ट माने वह जीव अज्ञानी है–मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि यह जीव समस्त पर-पदार्थों से भिन्न है, इस जीव को कोई भी पर-पदार्थ इष्ट या अनिष्ट हैं ही नहीं। जो जीव पर-पदार्थों में अच्छा-बुरा-पन मानता हो, वह जिसे स्वयं अच्छा माने उसको ग्रहण करना चाहता है और जिसे बुरा माने उसे त्याग देना चाहता है। परन्तु पर-पदार्थों की क्रिया तो स्वतंत्र है, आत्मा उनका ग्रहण अथवा त्याग नहीं कर सकता। पर-पदार्थों की क्रिया अपने आधीन नहीं है, तथापि उसमें अच्छे-बुरेपन की कल्पना करना और उनके ग्रहण-त्याग की भावना करना सो मिथ्या-दृष्टिपना है। कोई भी पर-पदार्थ इष्ट-अनिष्ट नहीं हैं, तथापि उनमें इष्टता-अनिष्टता मानना सो अनन्त दुःख का कारण है, और उनमें इष्ट-अनिष्टपना मानने का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता अर्थात् जीव अपनी मान्यतानुसार इष्ट का ग्रहण और अनिष्ट का त्याग नहीं कर सकता; इसलिये वह मान्यता मिथ्या है–असत्य है।

२ : आत्मा इष्ट और परपदार्थ अनिष्ट—ऐसा मानना वह भी अज्ञान

अब, कोई जीव पर-पदार्थों में यह इष्ट और यह अनिष्ट,

—ऐसे भेद न करे, किन्तु मैं आत्मा इष्ट और कर्म इत्यादि पर-पदार्थ अनिष्ट; ऐसी मान्यता करे तो वह भी अज्ञान है— मिथ्यात्व है; क्योंकि ऐसा माननेवाला जीव पर को बुरा मानने के कारण परद्रव्य को छोड़ना चाहता है। किन्तु "पर-वस्तुएँ इस जीव के आधीन नहीं हैं, और जीव उनका ग्रहण या त्याग नहीं कर सकता।" परवस्तुएँ जीव का कुछ बिगाड़ती नहीं हैं, तथापि उन्हें अनिष्ट मानना, और जो नहीं बन सकता उसकी भावना करना—वह अनन्त दुःख का कारण है, तथा वह मिथ्यामान्यता है। पर को अनिष्ट मानने का प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता अर्थात् अनिष्ट माने हुए पदार्थों का त्याग जीव कर ही नहीं सकता—इसलिये वह मिथ्या मान्यता है।

उपरोक्त दोनों मान्यताएँ मिथ्या हैं। हिंसादि भावों के पाप की अपेक्षा यह विपरीत मान्यता का पाप अनन्तगुना है, इसलिये उसे महाहिंसा अथवा महापाप कहा जाता है। अज्ञानी जीवों के होने वाले सभी विषयों का मूल यह विपरीत मान्यता है। यह विपरीत मान्यता ज्ञानियों के नहीं होती।

अब, नीचे यह बताया जाता है कि—ज्ञानियों के भाव में दो प्रकार के भेद किस प्रकार हैं:—

३ : स्वभाव इष्ट और विकार अनिष्ट—यह मान्यता सो साधकदशा

मेरा अविकारी स्वभाव (उसमें अभेदरूप से अविकारी पर्याय आ गई) इष्ट है और विकारभाव अनिष्ट है; इस मान्यता में जो इष्ट है उसका ग्रहण और जो अनिष्ट है उसका त्याग

स्वयं कर सकता है; इसप्रकार इस मान्यता का प्रयोजन सिद्ध हो सकता है। यह मान्यता तो यथार्थ है, परन्तु वहाँ अभी अच्छे का ग्रहण करने का और बुरे को त्याग देने का विकल्प प्रवर्तमान है, इसलिये वहाँ राग-द्वेष का अंश विद्यमान है; अर्थात् वहाँ चारित्र का दोष है, किन्तु मान्यता का दोष नहीं है। यह साधक दशा है। जीव अपना यथार्थ स्वरूप समझे और यह जान ले कि अपने में ग्रहण करने योग्य क्या है और त्याग करने योग्य क्या है तो अपने दोष का त्याग कर सकता है। इस मान्यता में इष्ट-अनिष्ट का यथार्थ ज्ञान तो हुआ है, किन्तु अभी इष्ट का सर्वथा ग्रहण और अनिष्ट का सर्वथा त्याग नहीं हुआ है।

४ : इष्ट–अनिष्ट के विकल्पों को भी छोड़कर स्वरूप में पूर्ण लीन होना सो साध्यदशा

'मेरा स्वभाव इष्ट और विकारी अवस्था अनिष्ट'—ऐसे भेद के विकल्प भी छोड़कर, परम उपादेय ज्ञायकस्वभाव में स्थिर हो जाये और वहीं लीनता द्वारा राग का क्षय करके वीतरागता और केवलज्ञान प्रगट करे–वहाँ दृष्टि और चारित्र दोनों पूर्ण हैं। प्रथम (तीसरे भंग के अनुसार) इष्ट-अनिष्ट का यथार्थ स्वरूप जाना था, उस स्वरूप से साक्षात् परिणमन ही हो गया, वह उत्तम है। उस दशा में ग्रहण करने योग्य सर्व का ग्रहण और त्याग करने योग्य सर्व का त्याग हो गया है।

इष्ट–अनिष्ट का अर्थात् ग्रहण–त्याग का स्वरूप समझने के लिये उपरोक्त चारों भंग अवश्य मनन करने योग्य हैं।

(१४४) धर्मी जीव के धर्म का सम्बन्ध किसके साथ है? और धर्मात्मा का कर्तव्य क्या है?

आयु के साथ धर्म का सम्बन्ध नहीं है, किन्तु धर्म तो आत्मस्वभाव के श्रद्धा–ज्ञान–चारित्र से है। धर्मात्मा जीव आयु को बढ़ाने या स्थिर रखने की भावना नहीं करते, किन्तु अपने सम्यग्दर्शनादि भावों को अखण्डरूप से स्थायी रखना ही धर्मात्मा जीवों का कर्तव्य है, और उन्हीं की पूर्णता की वे भावना करते हैं। आयु को, शरीर को या स्त्री-पुत्रादि को बनाये रखना वह धर्मी जीवों का कर्तव्य नहीं है, वे तो सब परवस्तु हैं, कोई भी जीव उन्हें स्थिर रख ही नहीं सकता। किन्तु जो पुण्यपरिणाम होते हैं उन्हें स्थिर रखना भी धर्मात्मा जीव का कर्तव्य नहीं है। धर्मात्मा जीव पुण्य-भाव को बढ़ाने की भावना नहीं करते किन्तु स्वभावभाव की वृद्धि की भावना करते हैं। अधर्मी जीव विकार को और पर को बढ़ाना चाहते हैं। धर्मात्मा जीव के धर्म का सम्बन्ध किसी परद्रव्य के साथ या पुण्य के साथ नहीं है किन्तु अपने आत्मा के साथ ही धर्म का सम्बन्ध है। जिसके साथ धर्म का सम्बन्ध है उसे तो जानता नहीं, तो फिर जीव को धर्म कहाँ से हो?

पुण्य-पाप और उनके फल—इन सबके साथ धर्म का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है; उन सबमें धर्म का अभाव है और धर्म में उन सबका अभाव है। आत्मा के स्वभाव के श्रद्धा–ज्ञान–चारित्ररूप जो भाव है उसमें धर्म का सद्भाव है और

पुण्यादि का अभाव है। इसप्रकार धर्म का सम्बन्ध धर्मात्मा (आत्मस्वभाव) के साथ है, अर्थात् धर्म आत्मा की ही शुद्ध-दशा है।

श्री समन्तभद्र स्वामी देवागम स्तोत्र में कहते हैं कि–हे जिनेन्द्र! हम इन समवशरणादि विभूतियों द्वारा आपकी महत्ता नहीं मानते; यह तो पुण्य का–विकार का फल है। ऐसे विकार के फल द्वारा हम आत्मा की महत्ता नहीं मानते किन्तु केवलज्ञानादि अनन्तगुणों द्वारा ही आत्मा की महत्ता को जानते हैं। ऐसा स्वभाव और विभाव के बीच का विवेक धर्मात्मा जीवों के होता है।

(१४५) मृत्यु का भय किसके दूर होता है?

मरण का भय कब दूर हो? आयु के अभाव को लोग मरण कहते हैं। आयु पुद्गल परमाणुओं की अवस्था है। पुद्-गल की अवस्था एक ही समयपर्यंत की है; उसकी अवस्था का उत्पाद पहले आयुरूप था, पश्चात् अन्य अवस्था में उसका परिणमन होगया, और वह आयुरूप परिणमित न होकर अन्य-रूप परिणमित होगया, और उसी समय शरीर के परमाणुओं का परिणमन भी बदल गया, तथा आत्मा की व्यञ्जनपर्याय की उस क्षेत्र में रहने की योग्यता पूर्ण होकर वह अन्य क्षेत्र में चली गई; इसप्रकार कर्म, शरीर और आत्मा—इन तीनों की अवस्था का स्वतंत्र परिणमन प्रतिसमय हो रहा है। किन्तु उन तीनों में से कोई (कर्म, शरीर या आत्मा की व्यञ्जन-पर्याय) जीव को दुःख का कारण नहीं है; दुःख का कारण

तो अपना अज्ञानभाव ही है। जिन्हें कर्म और शरीर से भिन्न अपने चैतन्यस्वभाव का भान है, वे तो उसके ज्ञाता ही रहते हैं; वे शरीरादि के वियोग से आत्मा का मरण या दुःख नहीं मानते किन्तु संयोग से भिन्नरूप अपने त्रैकालिक चैतन्यस्वभाव का सदा अनुभवन करते हैं। किन्तु जिन्हें कर्म और शरीर से भिन्न अपने चैतन्यस्वभाव का अनुभव नहीं है वैसे अज्ञानी जीव शरीरादि के वियोग से आत्मा का मरण और दुःख मानकर आकुलता और राग-द्वेष द्वारा दुःखी होते हैं। इसप्रकार वे जीव अज्ञानभाव द्वारा अपने चैतन्यस्वभाव का घात करते हैं, वही मरण है—हिंसा है। इसलिये जो शुद्ध चैतन्यस्वभाव को जानते हैं उन्हीं के मृत्यु का भय दूर होता है।

(१४६) जीव की धारणा के अनुसार ही सबकुछ कब हो सकता है? और उसका दुःख कब दूर होता है?

संसारी जीव ऐसा चाहते हैं कि पर वस्तु में अपनी धारणानुसार कार्य हों; किन्तु उनकी इच्छानुसार कार्य पर वस्तु में नहीं होते। इससे वे आकुल-व्याकुल होकर दुःखी होते हैं। यदि आकुलता-व्याकुलता दूर हो तो दुःख दूर हो। किन्तु यह कब दूर हो? जबतक पर वस्तु को परिवर्तित करने की इच्छा है तबतक तो आकुलता-व्याकुलता दूर हो ही नहीं सकती। किन्तु, मैं पर वस्तु से भिन्न हूँ, पर के कार्य मेरे आधीन नहीं है; मैं तो सहज ज्ञानरूपी साम्राज्य द्वारा सब का ज्ञाता हूँ; ऐसा भान करके और इच्छाओं को तोड़कर

यदि ज्ञानस्वरूप में स्थिर हो तो उस जीव की धारणानुसार (ज्ञान अनुसार) ही सब कुछ हो....अर्थात् जबतक जीव के पर में कुछ भी करने की इच्छा है तबतक, उसका ज्ञान अपूर्ण है। किन्तु जब जीव इच्छा को तोड़कर केवलज्ञान प्रगट करे तब, जैसा उसके ज्ञान में ज्ञात हो वैसा ही पदार्थों का परिणमन होता है; इसलिये कहा है कि—जबतक इच्छा है तबतक धारणा के अनुसार (ज्ञान अनुसार) कार्य होते ही नहीं, और जहाँ इच्छा नहीं है वहाँ धारणानुसार ही (ज्ञान के अनुसार ही) कार्य स्वयमेव पदार्थों की स्वतंत्रता से होते हैं। इच्छा-वाले जीव की इच्छानुसार कार्य न होने से वह आकुल-व्याकुल ही रहता है, इसलिये इच्छा ही दुःख है। जहाँ इच्छा नहीं है वहाँ ज्ञान में जाने अनुसार ही पदार्थों का परिणमन होता है; वहाँ आकुलता नहीं रहती, निराकुल ज्ञातृत्व है; ऐसी निराकुलता सो सुख है अर्थात् ज्ञान ही सुख है। जितने-जितने अंशों में सम्यग्ज्ञान आत्मा में एकाग्र होता है उतने ही अंशों में निराकुलता की वृद्धि होती जाती है।

(१४७) ज्ञान का अकर्ता स्वभाव

ज्ञान पर-पदार्थों में क्या करेगा? उसका स्वभाव तो जानने का है; किन्तु पर में कुछ करने का उसका स्वभाव नहीं है, और वास्तव में तो ज्ञान के समय भी जो राग होता है वह राग करने का भी ज्ञान का स्वभाव नहीं है। जैसे—आँख मेरु पर्वत को जानती अवश्य है, किन्तु क्या आँख मेरु पर्वत को ऊँचा कर सकती है? वैसे ही ज्ञान तो सभी को जानने

के स्वभाववाला है, वह सब को जानता अवश्य है परन्तु उनमें कुछ भी फेरफार नहीं करता। वास्तव में तो ज्ञानस्वभाव राग का कर्ता नहीं है किन्तु उसका ज्ञाता ही है। इस प्रकार ज्ञान पर का अकर्ता है-ऐसा समझने से ज्ञान ज्ञान में लीन रहता है; ज्ञान ज्ञानरूप ही होता है किन्तु विकाररूप नहीं होता। इसप्रकार ज्ञान ही धर्म है और ज्ञान ही संसार के नाश का उपाय है।

(१४८) ज्ञान साम्राज्य

नियमसार शास्त्र में ऐसा कहा है कि—ज्ञान हो तीन लोक का साम्राज्य है। लोक में जो राजा होता है वह अपने राज्य को मात्र जानता ही है, किन्तु अज्ञान के द्वारा इच्छा करके वह दुःखी होता है और उसके ज्ञान के अनुसार तो पदार्थ परिणमित नहीं होते; जिसकी अज्ञानुसार कार्य न हो और जिसमें दुःख हो उसे साम्राज्य कैसे कहा जाये ? साम्राज्य तो केवली भगवान के पास है; क्योंकि उनके केवलज्ञान की आज्ञा में ही समस्त पदार्थ परिणमित होते हैं; केवलज्ञान की मर्यादा का उल्लंघन करके रंचमात्र भी नहीं होता और भगवान इच्छारहित होने से सम्पूर्ण अनाकुल सुख का ही अनुभवन करते हैं, इसलिये केवलज्ञान ही जगत का यथार्थ साम्राज्य है।

(१४९) सर्व शास्त्रों का प्रयोजन

सर्व शास्त्रों का प्रयोजन यही है कि--चैतन्यस्वरूप आनन्दमय आत्मा को पहिचानकर उसमें लीन हो ! शास्त्र का एक

ही वाक्य सत्पुरुषों के पास से सुनकर यदि इतना समझ ले तभी उसका प्रयोजन सिद्ध है, और लाखों-करोड़ों शास्त्र सुनकर भी यही समझना है। यदि यह न समझे तो उस जीव ने शास्त्रों के एक शब्द को भी यथार्थरूप से नहीं जाना है।

जिससे आकुलता दूर होकर अनाकुलता हो—ऐसा आत्मस्वभाव ही मूल प्रयोजनभूत है। सत् का श्रवण करे, शास्त्र-स्वाध्याय करे, नवतत्त्वों को जाने, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा-भक्ति करे;—इत्यादि सबकुछ बराबर करने पर भी यदि अपने निराकुल आत्मस्वभाव की ओर उन्मुख नहीं हुआ और उसका अनुभव नहीं किया तो जीव का वह सब करना निष्फल है, उससे जीव के प्रयोजन की सिद्धि नहीं है। और जिस जीव को शास्त्र पढ़ना भी न आता हो, नवतत्त्वों के नाम नहीं जानता हो, तथापि यदि सत्पुरुष के निकट से श्रवण करके चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव कर लिया है तो उसके सर्व प्रयोजन की सिद्धि है।

(१५०) कल्याण का उपाय कषाय की मन्दता नहीं किन्तु अकषायस्वभाव की पहिचान है।

सर्वथा कषायरहित अकषायस्वभाव को समझकर कषाय का अभाव करना प्रयोजनभूत है; किन्तु अकषायस्वभाव को समझे बिना पर के लक्ष्य से कषाय मन्द करे तो वह प्रयोजनभूत नहीं है। कषाय का अभाव कब होता है?—मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, मेरे स्वरूप में कषाय नहीं है,—इसप्रकार अकषाय स्वरूप की प्रतीति के बल से ही कषाय का अभाव हो सकता

है। अकषाय चैतन्यस्वरूप की प्रतीति का बल प्रगट हुए विना परलक्ष्य से मात्र कषाय की मन्दता कर सकता है, किन्तु कषाय का अभाव तो नहीं हो सकता। परलक्ष्य से जो कषाय की मन्दता हो उससे आत्मकल्याण की सिद्धि नहीं है, और वह कषाय की मन्दता सदैव स्थिर भी नहीं रह सकेगी; अल्पकाल में ही वह बदलकर तीव्र कषाय हो जायेगी। और आत्मा के लक्ष्य से जो कषायें दूर हुईं वे सदा के लिये दूर हो जाती हैं, तथा शेष कषायें भी क्रमशः दूर होकर अकषायी वीतरागदशा प्रगट होती है; इसलिये सर्वप्रथम आत्मा के अकषाय चैतन्यस्वरूप की पहिचान करना ही कल्याण का उपाय है।

(१५१) युक्ति

नय और प्रमाणज्ञान को युक्ति कहते हैं।

जो युक्ति आत्मस्वभाव को सिद्ध करे वही युक्ति है। प्रथम, वस्तु है—ऐसा निश्चित् करना चाहे तो उसे युक्ति द्वारा सिद्ध कर सकता है। जो स्वभाव हो उसे सिद्ध करना सो युक्ति है; किन्तु जो स्वभाव को ही न समझना चाहे उसे युक्ति यथार्थ नहीं बैठेगी।

(१५२) आदरणीय क्या है?

प्रश्नः—नवतत्त्वों में से कौन-कौन से तत्त्व आदरणीय हैं?

उत्तरः—ज्ञान में वे सभी तत्त्व जानने योग्य हैं। सद्भूत व्यवहारनय से संवर-निर्जरा-मोक्ष और जीव आदरणीय हैं, परन्तु शुद्धनिश्चय से तो नवतत्त्वों के भेदों का विचार छोड़कर

मात्र शुद्ध जीवतत्त्व ही आदरणीय है। सम्यक्श्रद्धा मोक्ष-पर्याय जितना ही आत्मा को स्वीकार नहीं करती, किन्तु चैतन्य ज्ञायकस्वरूप से एकरूप स्वीकार करती है; इसलिये श्रद्धा में तो नवों तत्त्वों का विकल्प छोड़कर एकरूप ज्ञायक आत्मा का अनुभव ही आदरणीय है। नवतत्त्व के विकल्पों द्वारा आत्मा को मानना भी सम्यक्त्व नहीं है। नवतत्त्वों का ज्ञान सो व्यवहार सम्यक्त्व है; और उन नवतत्त्वों का लक्ष्य (विचार) छोड़कर एकरूप आत्मा को प्रतीति में लेना सो यथार्थ सम्यग्दर्शन है। नवतत्त्वों का विचार करने से भेद के कारण राग उत्पन्न होता है और राग की एकत्वबुद्धि दूर नहीं होती, इसलिये श्रद्धा में तो नवतत्त्व आदरणीय नहीं हैं, किन्तु नवतत्त्वों के भेद से परे मात्र ज्ञायक अभेद आत्मा ही आदरणीय है, क्योंकि अभेद के लक्ष्य से राग के साथ की एकत्वबुद्धिरूप मिथ्यात्व दूर होता है और राग दूर होकर वीतरागता होती है।

(१५३) विशेष तत्त्वों का ज्ञान प्रयोजनभूत है या नहीं ?

प्रश्नः—जैनदर्शन में जो आस्रव–बन्ध–मोक्षादि और सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र इत्यादि विशेष तत्त्व कहे हैं वे प्रयोजनभूत हैं या अप्रयोजनभूत हैं ?

उत्तरः—जैनदर्शन में कहे हुए विशेष तत्त्वों को जानने में वे प्रयोजनभूत हैं, क्योंकि वे विशेष तत्त्व वस्तु के सामान्य स्वरूप का अवलम्बन लेकर ही कहे गये हैं। सामान्य को सर्वथा छोड़कर मात्र विशेष का निरूपण नहीं है। विशेष

तत्त्वों का ज्ञान करके यदि सामान्य स्वभाव की ओर उन्मुख होकर उसकी प्रतीति करे तो उस जीव को विशेष तत्त्वों का ज्ञान प्रयोजनभूत कहलाता है। किन्तु यदि उन विशेष तत्त्वों के जानने में ही रुक जाये और सामान्य स्वभाव को प्रतीति में न ले तो उस जीव को विशेष तत्त्वों का ज्ञान प्रयोजनभूत नहीं है। किन्तु कोई जीव विशेष तत्त्वों को बिल्कुल जाने ही नहीं, तो उस जीव का प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा।

(१५४) आत्मा को क्या खपेगा और क्या नहीं, —उसकी खबर किसे होती है ?

अधिकांश व्यवहार के आग्रही जीव, अपने को आत्म-स्वभाव की पहिचान होने से पहले ही कहते हैं कि हमें तो जैन के हाथ का ही खपेगा, अजैन के हाथ का नहीं; किन्तु भाई! अभी तो आत्मस्वभाव की पहिचान होने से पहले तू स्वयं ही अजैन है। पहले सम्यग्दर्शन द्वारा तू सच्चा जैन तो हो जा; फिर तुझे यथार्थरूप से खबर होगी कि तेरे आत्मा को क्या खपेगा और क्या नहीं ?

ज्ञानियों का अभिप्राय तो ऐसा है कि हमें अपना वीत-रागी स्वभाव और वीतरागता ही खपेगी; राग का अंशमात्र भी नहीं। ऐसे भानपूर्वक उनके अपनी भूमिकानुसार राग का और उसके निमित्तों का त्याग होता है। अज्ञानियों को राग-रहित स्वभाव का तो भान नहीं और राग को आदरणीय मानते हैं, उनकी मिथ्या मान्यता में उन्हें अनन्त राग और उसके निमित्तरूप अनन्त पदार्थ खपते हैं—उसका तो वे त्याग

नहीं करते और बाह्य में यह वस्तु नहीं खपेगी और यह खपेगी—ऐसा करने में ही रुक जाते हैं। परिणाम में तो मंद-कषाय कदाचित् ही होती है। ऐसा मार्ग जैनदर्शन का नहीं है। अभी यही नहीं समझा कि मैं कौन हूँ और पर कौन है, तो फिर अज्ञानी को यह खबर कैसे पड़ेगी कि मुझे क्या खपेगा और क्या नहीं ?

(१५५) स्वाश्रय से मुक्ति और पराश्रय से बन्धन

आत्मस्वभाव स्वयं अपने से ही पूर्ण है, उसे किसी भी परवस्तु का किंचित् आश्रय नहीं है। किसी भी परद्रव्य का अनुसरण करके होनेवाला चाहे जो भाव हो वह बन्धन ही है; और स्वद्रव्य का अनुसरण करके होनेवाला भाव मुक्ति का कारण है। सिद्धान्त ऐसा है कि—स्वद्रव्याश्रित मुक्ति और परद्रव्याश्रित बंधन। प्रथम, मैं स्वभाव से परिपूर्ण हूँ, पर-पदार्थों का या विकल्प का अंश भी मुझे आश्रयभूत नहीं है;—ऐसा स्वाश्रयता का विश्वास करने पर मिथ्यात्वभाव से मुक्ति होकर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। ऐसी स्वाश्रयता की प्रतीति करने के पश्चात् भी अस्थिरता के कारण जितना भाव परद्रव्य के लक्ष्य से होता है वह भी बंध का ही कारण है। स्वाश्रय स्वभाव की श्रद्धा के पश्चात् उसी के आश्रय से स्थिरता करना ही मुक्ति का कारण है। 'मुझे पराश्रय चाहिये, देव–गुरु–शास्त्रादि के आश्रय से मुझे लाभ होता है' —ऐसी मान्यतापूर्वक का पराश्रय से होनेवाला भाव मिथ्यात्व

है। और मेरे आत्मा को किसी पराश्रय से लाभ नहीं होता—ऐसी श्रद्धा होने पर भी पर के अवलंवन से जो रागादिभाव हों वे भी वन्धन हैं, चारित्र को रोकनेवाले हैं। ज्ञानियों को भी अस्थिरता की भूमिका में पराश्रित भाव होते अवश्य हैं, किन्तु ज्ञानियों को श्रद्धा है कि यह भाव मुझे लाभ का कारण नहीं हैं, यह भाव मेरा स्वभाव नहीं हैं, मेरा स्वभाव तो इनसे रहित है—ऐसा भेदज्ञान के वल से स्वाश्रय में स्थिर होकर वे पराश्रितभाव का अभाव करते हैं।

(१५६) अनार्यता–मूढ़ता

जिनेन्द्रदेव के शासन में मांस को तो अस्पर्श्य गिना है, और चमड़े को स्पर्श किया हो तो उसके हाथ से मुनि आहार न करें—ऐसा उसका निषेध है। मांस को तो छूने में भी पाप है। तव फिर मृतक पशुओं का चमड़ा चीरना और उसमें सेवा मनाना—यह तो सीधा अनार्यता का लक्षण है। चमड़े को चीरना और मांस को नोचना, यह कार्य आर्य का नहीं है। आर्य मनुष्य ऐसे हलके और पापरूप कार्य नहीं करते। चमड़े को चीरना और उसमें देशसेवा मनाना अथवा धर्म मनाना—यह तो मूढ़ता ही है, उसमें बुद्धि का किंचित् विवेक नहीं है।

आत्मा का स्वभाव महा पवित्र है; उसमें परवस्तु तो नहीं है, किन्तु रागादि भी नहीं हैं, उसे भूलकर महाहिंसा के कारणरूप—ऐसे मांस–चमड़े को नोचने-फाड़ने में स्वाश्रयता मानकर उसमें धर्म मनाना अथवा देशसेवा वतलाना, सो

अपने आत्मा का महान अनादर है। तथा ऐसे जीवों को धर्मात्मा के रूप में मानकर उनकी पूजा करना भी अधर्म का और पाप का ही पोषण है।

इसी प्रकार सरल रीति से त्रसहिंसा के भाव करने योग्य मानना, त्रसहिंसा के भावों को कर्तव्य मनाना—वह भी महान मूढ़ता है, उसमें तीव्र हिंसा का महान पाप है।

(१५७) पर्याय का कारण कौन है?

आत्मा वस्तु है, वस्तु में प्रतिक्षण अवस्था होती है। आत्मा की अवस्था तो प्रतिसमय होती ही रहती है; किन्तु वह अवस्था कैसी होती है? अवस्था की रचना करनेवाला वीर्य (पुरुषार्थ) है; वीर्य को मार्ग दिखानेवाला ज्ञान है, ज्ञान का परिणमम दृष्टि (श्रद्धा) का अनुसरण करके होता है, और दृष्टि का आधार (विषय) सम्पूर्ण द्रव्य (वस्तु) है। इसप्रकार एक गुण को दूसरे गुण का कारण कहना सो व्यवहार से है; परमार्थ से देखें तो प्रत्येक गुण स्वतंत्र है और प्रत्येक गुण की अनन्त पर्यायें भी स्वतंत्र हैं, प्रत्येक समय की वह पर्याय स्वयं अपनी रचना करती हैं। उस-उस समय की पर्याय स्वयं स्वाश्रयोन्मुख हो तो शुद्ध होती है, पराश्रयोन्मुख हो तो अशुद्ध होती है; इसप्रकार स्वयं ही कारण-कार्य है। तात्पर्य यह है कि परमार्थ से कारण-कार्यता है ही नहीं, द्रव्य-गुण और पर्याय सभी अकारणीय है। एक ही पदार्थ में भेद करके कारण-कार्यपना कहना सो व्यवहार है। अभेदत्व की अपेक्षा से एक वस्तु में द्रव्य-गुण-पर्याय भिन्न नहीं हैं किन्तु एक वस्तु ही है, इसलिये अभेद विवक्षा में कारण—कार्यपना ही नहीं है।

अब, द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद की विवक्षा से देखने पर, पर्याय वह द्रव्य का ही परिणमन है और द्रव्य के आधार से ही पर्याय होती है इसलिये द्रव्य को कारण और पर्याय को कार्य कहना सो व्यवहार है। निश्चय से तो पर्याय स्वयं ही कारण और स्वयं ही कार्य है। पूर्व पर्याय का व्यय वह वर्तमान पर्याय का कारण है—ऐसा कहना सो भी व्यवहार है। परम शुद्धनय के विषय में कारण-कार्य के अथवा द्रव्य-पर्याय के भेद का विकल्प भी नहीं है, किन्तु द्रव्य-गुण-पर्याय से अभेद एकाकार द्रव्य ही है, पर्याय स्वय द्रव्य के आश्रय से एकाकार परिणमित हो गई है।

(१५८) शरीर से भिन्न चैतन्यस्वरूप को जानकर उसी की शरण ले !

यह शरीर तो जड़ परमाणुओं का पिंड है; वे परमाणु आत्मा से भिन्न हैं, स्वतंत्र परिणमन करते हैं। एक क्षण में अन्यरूप परिणमित हो जायेंगे। आत्मा ज्ञातास्वरूप है-चेतनायुक्त है; चेतनभगवान आत्मा को जड़ शरीर का आधार नहीं है, किन्तु अपने चैतन्यत्व का ही आधार है। चैतन्य को राग का भी आधार नहीं है। हे जीव ! तुझे अपना एक चैतन्य ही शरण है, शरीर अथवा राग कोई तुझे शरणभूत नहीं हैं; इसलिये शरीर से और राग से भिन्न—ऐसे अपने चैतन्यस्वरूप को पहिचानकर उसी को शरण ले !

जिसके साथ स्वप्न में भी सम्बन्ध नहीं है—ऐसे इस जड़—मुर्दे के साथ सम्बन्ध मानकर तू अनादि से दुःखी हो रहा है।

हे जीव ! अब उस मान्यता को छोड़ दे ! मैं तो चैतन्य हूँ, इस शरीर के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है; पूर्व में भी इसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं था, और न भविष्य में भी कोई सम्बन्ध होना है। चैतन्य और जड़ त्रिकाल भिन्न ही हैं। मैं पराश्रय से ही दुःखी हुआ हूँ, इसलिये अब स्वाधीन चैतन्य को जानकर अपना हित कर लूँ। भले ही सारे जगत का चाहे जो हो, इसके साथ मुझे कोई सम्बन्ध नहीं है, मैं जगत का साक्षीभूत, जगत से भिन्न अपने में निश्चल एकरूप शाश्वत ज्ञाता हूँ, वास्तव में जगत का और मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, मैं अपना ही ज्ञाता हूँ।

(१५८) शरीर और चेतना का भिन्नत्व

आत्मा की चेतना अखण्ड है, असंख्यप्रदेशी चेतना के कभी भाग नहीं होते। शरीर के दो टुकड़े हो जायें किन्तु वहाँ भी चेतना के टुकड़े नहीं होते; क्योंकि ज्ञान तो ज्यों का त्यों ही रहता है। शरीर की एक अँगुली कटे तो वहाँ कहीं ज्ञान में से कुछ भाग नहीं कट जाता। क्योंकि चेतना तो अपने सर्व प्रदेश में अखण्ड एक अरूपी तथा असंयोगी है और शरीर तो संयोग मात्र, जड़-रूपी पदार्थ है; दोनों बिल्कुल भिन्न हैं। शरीर के लाख टुकड़े होजायें तथापि चेतना तो अखण्ड ही है। चेतना और शरीर कभी भी एक हुए ही नहीं।

शरीर के कटने से जीवों को दुःख होता है; वहाँ उनको शरीर का कटना दुःख का कारण नहीं है, किन्तु शरीर के साथ जो एकत्वबुद्धि है वही दुःख का कारण है; और यदि साधक

जीवों को अल्प दुःख हो तो वह उनके अपने पुरुषार्थ की अशक्ति से जो राग है—उसके कारण होता है। यदि शरीर का कटना दुःख का कारण हो तो उस समय आत्मा का स्वतंत्र परिणमन कहाँ रहा? शरीर कट रहा हो तथापि वीतरागी सन्तों को उस समय भी दुःख नहीं होता किन्तु स्वरूप में स्थिर होकर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं। इसलिये शरीर और आत्मा सदा भिन्न ही हैं।

(१६०) द्रव्य–गुण–पर्याय की अनादिता—उनका कर्ता कोई नहीं है

जो वस्तु अनादि होती है उसके गुण–पर्याय भी अनादि ही होते हैं; क्योंकि वस्तु हो और उसकी पर्याय न हो–ऐसा होता ही नहीं। सिद्धदशा, स्वर्ग, नरक, कर्म इत्यादि सभी अनादि से ही हैं। वस्तु अनादि है और वस्तु की पर्याय भी अनादि है, इसलिये इस जगत का कर्ता कोई ईश्वर है–यह बात मिथ्या है; जो अनादि से स्वयंसिद्ध है ही, उसका निर्माण करना होता ही नहीं।

यदि ईश्वर कर्ता हो तो उसने नवीन क्या बनाया? कौन सी वस्तु नवीन तैयार की? या गुण–पर्याय नये बनाये? प्रथम तो जो वस्तु न हो वह नवीन बन ही नहीं सकती। वस्तु को कहाँ से नई बनायेगा? और जो वस्तु होती है वह अपने गुण-पर्याय सहित ही होती है, इसलिये वस्तु के गुण-पर्यायों का भी कोई कर्ता नहीं है। जैसे वस्तु अनादि है उसी प्रकार उसकी पर्यायें भी अनादि से होती ही रहती हैं। कोई प्रश्न

ही सम्यग्दर्शन है। ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करने के लिये ज्ञेयपदार्थों सम्बन्धी आश्चर्य को भूल जा !

(१६२) ज्ञान की स्वतंत्रता

पराधीन हुआ ज्ञान भी स्वयं परतन्त्र हुआ है; उसे किसी अन्य ने परतन्त्र नहीं बनाया, इसलिये वह स्वतंत्ररूप से स्वाधीन हो सकता है। ज्ञान तो आत्मा का निजस्वरूप है और जो क्रोधादिक होते हैं वह विभाव है। राग-द्वेष क्रोधादि के कारण ज्ञान की प्रवृत्ति पराधीन हो रही है। ज्ञान स्वयं रागादि में रुका है, इसलिये ज्ञान की शक्ति हीन हो गई है, वह ज्ञान का ही अपराध है। यदि ज्ञान स्वयं राग में न रुककर स्व-स्वभाव में लीन हो तो उसकी शक्ति का पूर्ण विकास होता है। ज्ञान का विकास किन्हीं रागादि भावों से नहीं होता किन्तु ज्ञान-स्वभाव के अवलम्बन से ही होता है।

(१६३) जैनदर्शन का सार—भेदज्ञान और वीतरागता

जैनधर्म वस्तु के यथार्थ स्वरूप का, निरूपण करता है। सत् की सत्‌रूप से और असत् की असत्‌रूप से स्थापना करता है, किन्तु सबको समान नहीं कहता। वीतरागतारूप भावों को भला कहकर उनकी स्थापना करता है और राग-द्वेष अज्ञान भावों को बुरा कहकर उनका निषेध करता है, अर्थात् उन्हें त्यागने का प्ररूपण करता है। किन्तु वह किसी व्यक्ति को भला-बुरा नहीं कहता; गुण को अच्छा कहता है और अवगुण को बुरा कहता है। गुणों को भला और अवगुणों को बुरा जानना तो यथार्थ ज्ञान है, उसमें राग-द्वेष नहीं है।

जैनों में गुणों की अपेक्षा से पूजा का स्वीकार किया है। जैनदर्शन का मूल भेदविज्ञान है, उसके लिये प्रथम गुण को गुणरूप और दोष को दोषरूप जानना चाहिये। जबतक गुण को और अवगुण (दोष) को बराबर न जाने तबतक भेदज्ञान नहीं होता,—गुणों का विकास नहीं होता और दोष दूर नहीं होते। सम्यक्प्रकार से पूर्णता के लक्ष्य से प्रारम्भ करके क्रमशः राग-द्वेष को दूर करके वीतरागता प्रगट करना ही जैनधर्म का प्रयोजन है। अज्ञान अथवा राग-द्वेष अंशमात्र भी हो तो वह जैनधर्म का प्रयोजन नहीं है। सम्यक्प्रकार से जितने रागादिभाव दूर हुए उतना लाभ, और जितने शेष रहे उनका निषेध—ऐसी साधकदशा है।

जैनमत में अन्य मिथ्यामतों का खण्डन किया जाता है; वहाँ वाद-विवाद का प्रयोजन नहीं है, परन्तु सत् निर्णय का ही प्रयोजन है। अपने ज्ञान को प्रमाणिक और स्पष्ट बनाने के लिये, तथा सत् की दृढ़ता के लिये वह जानना योग्य है; वह राग-द्वेष की वृद्धि करने के लिये नहीं है।

जैनधर्म तो वीतरागभावस्वरूप है। प्रथम सम्यक्दर्शन-रूपी जैनधर्म प्रगट होने से श्रद्धा में वीतरागभाव प्रगट होता है और पश्चात् सम्यक्चारित्ररूप जैनधर्म प्रगट होने से राग दूर होकर साक्षात् वीतरागभाव प्रगट होता है। किन्तु जब तक श्रद्धा में वीतरागता प्रगट न हो और राग के एक कण को भी अच्छा माने तबतक जीव के जैनधर्म का अंश भी प्रगट नहीं होता। जैनदर्शन प्रथम तो श्रद्धा में वीतरागभाव

कराता है, और पश्चात् चारित्र में वीतरागभाव प्रगट होते हैं। प्रारम्भ से अन्ततक जो राग होता है उसे जैनदर्शन छुड़ाता है। इसप्रकार वीतरागभाव ही जैनदर्शन का प्रयोजन है अथवा वीतरागभाव स्वयं ही जैनधर्म है—राग जैनमत नहीं है।

शुद्धि-पत्र

पेज नं०	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
४	७	किसी	किसी भी
१८	८-९	परलक्ष से होने	पराश्रय करने से
२७	५	प्रकृति	कर्म प्रकृति
२७	८	"	जड़ प्रकृति
४१	६	क्षणा	क्षमा
६५	३	ससार	संसार
८३	२०	न्वभाव	स्वभाव
१००	२१	रिन्तु	किन्तु
१३३	३	ससय	समय
१४१	३	उसवास	उपवास
१६१	४	आत्मा को	आत्मा का